Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

संस्थापक–सम्पादक
यशदेव शल्य

उन्मीलन

मानसिक हिन्द स्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

वर्ष 38, अंक 2
जुलाई-दिसम्बर, 2024

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

वर्ष 38, अंक 2 जुलाई–दिसम्बर, 2024

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

संस्थापक–सम्पादक
यशदेव शल्य

सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

दर्शन प्रतिष्ठान
जयपुर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

परामर्शदाता

1. **रामजी सिंह,** 104, सन्याल इन्क्लेव, बुद्धमार्ग, पटना–800001
2. **अशोक वाजपेयी,** सी–60, अनुपम को–ऑपरेटिव ग्रुप हाउसिंग सोसायटी, वसुन्धरा एन्क्लेव, दिल्ली–110096
3. **रमेशचन्द्र शाह,** एम. 4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल–462003
4. **अशोक वोहरा,** सी–748, विकासपुरी, नई दिल्ली–110018

संस्थापक-सम्पादक

यशदेव शल्य

सम्पादक

1. **अम्बिकादत्त शर्मा,** सी.–37, गौर नगर, विश्वविद्यालय परिसर, सागर–470003 दूरभाष 07582–293668 मो. 09406519498
2. **प्रदीप कुमार खरे,** आर.बी. 72, इण्डस गार्डन, गुलमोहर, भोपाल–462039, दूरभाष 0755–2427461, मो. 09425029308

ISSN 0974 0053
UNMEELAN (Refereed Journal), U.G.C. Care List : Arts & Humanities, Sl.No. 310

वार्षिक शुल्क	आजीवन शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 200/–	व्यक्तिगत : रु. 5000/–
संस्थाएं : रु. 500/–	संस्थाएं : रु. 10000/–

आजीवन/वार्षिक सदस्यता हेतु राशि "प्रधान–सम्पादक – उन्मीलन" के पक्ष में बैंक ड्राफ्ट (सागर, म.प्र. पर देय) निम्न पते पर भेजें – अम्बिकादत्त शर्मा, दर्शन विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर–470003 (म.प्र.)

कमलनयन एवं अम्बिकादत्त शर्मा द्वारा **दर्शन प्रतिष्ठान,** पी–51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015 के लिए प्रकाशित।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अनुक्रमणिका

1. भारत की पहचान उसका अतिक्रामी आत्मबोध 5
गिरिश्वर मिश्र

2. भाषाई उपनिवेशन के तीन मॉडल और सांस्कृतिक बिचौलिये 16
अभय कुमार दुबे

3. सांख्य–योग की सैद्धांन्तिकी का पुनरावलोकन 84
शिव कुमार यादव

4. पंचदशी के परिप्रेक्ष्य में आत्मतत्त्व का स्वरूप–निरूपण 102
प्रदीप कुमार खरे एवं नवीन दीक्षित

5. बौद्ध दर्शन के मूलभूत सिद्धांत और उनका पर्यावरणीय निहितार्थ 115
मनोहर लाल चौरसिया

6. सत्ता की समझ 131
अनिल कुमार तिवारी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला

1.	संगीत और चिन्तन (शंकर पुरस्कार से सम्मानित)	–	मुकुंद लाठ	100.00
2.	धर्म–संकट	–	मुकुंद लाठ	200.00
3.	कर्म–चेतना के आयाम	–	मुकुंद लाठ	250.00
4.	क्या है?क्या नहीं है?	–	मुकुंद लाठ	150.00
5.	मूल्यतत्त्व–मीमांसा (शंकर, मंगलाप्रसाद तथा मूर्त्तिदेवी पुरस्कारों से सम्मानित)	–	यशदेव शल्य	200.00
6.	चिद्विमर्श	–	यशदेव शल्य	175.00
7.	तत्त्व–चिन्तन	–	यशदेव शल्य	200.00
8.	चित् की आत्म–गवेषणा	–	यशदेव शल्य	250.00
9.	काव्य–विमर्श	–	यशदेव शल्य	250.00
10.	मुख्य भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन–धाराएं	–	यशदेव शल्य भगवती	150.00

11. यशदेव शल्य की सभी मौलिक कृतियों का संग्रह अब 'यशदेव शल्य समग्र' शीर्षक से चार खण्डों में उपलब्ध है। प्रत्येक खण्ड का मूल्य 1,600/- तथा चारों खण्डों का मूल्य 6,400/- है। प्रकाशक :- डी.के. प्रिण्टवर्ल्ड (प्रा.) लि., वेदश्री, एफ- 395, सुदर्शन पार्क, नई दिल्ली-110015, दूरभाष 011-25453975

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

भारत की पहचान उसका अतिक्रामी आत्मबोध

गिरीश्वर मिश्र

आए दिन यह तर्क किसी न किसी कोने से तथाकथित बुद्धिजीवी वर्ग पेश करता रहता है कि भारत की विविधता की अनदेखी हो रही है। वह बड़े निश्चय के साथ अपना सुचिंतित संदेह इस भाँति व्यक्त करता है मानो 'भारत' कोई एकल रचना न थी, न है और न उसे होना चाहिए। इस तरह की सोच की प्रेरणाएँ विभिन्न अवसरों पर उभार लेती रहती हैं और भारत की अंतर्निहित स्वाभाविक एकता को संदिग्ध बना कर उसे प्रश्नांकित करने की चेष्टा करती हैं। भारत की विविधता ही उसका स्वभाव है, ऐसा रेखांकित करते हुए और उसी का बखान करते हुए एकता की समस्या खड़ी की जाती है। इस तरह की स्थापना के लिए भाषा, धर्म, जाति, रंग, वेश–भूषा, खान–पान, क्षेत्र और प्रथा आदि को दिखाया जाता है। नाना प्रकार की विविधताओं को विशदता से पहचनवाते हुए भारत एक विविधता का नाम है, यह प्रतिपादित करते हैं।

यह सच है कि दृश्य जगत् में मिलने वाली विविधता की कोई सीमा नहीं है और न हो ही सकती है। हम सभी देखते हैं कि प्रत्येक विविधता से कुछ और विविधताएँ भी पैदा होती रहती हैं। विविधताओं का विस्तार हर किसी का प्रत्यक्ष अनुभव है। हम अक्सर पाते हैं कि एक ही माता–पिता की अनेक संतानें होती हैं जो स्वभाव और रंग–रूप आदि विशेषताओं में एक दूसरे से भिन्न भी होती हैं। यहाँ तक कि जुड़वा बच्चों में भी अंतर पाए जाते हैं, पर उस भिन्नता से माता–पिता से उनका निरंतर सम्बन्ध कमतर या असंगत नहीं हो जाता। इस सामान्य अनुभव को किनारे रख भारत की एकता को नक़ली और प्रायोजित घोषित करते हुए विविधता के शास्त्र को बड़ी तेजी से आगे बढ़ाने में हमारे प्रगतिशील विचारक महानुभाव सतही जानकारियों का अम्बार लगाते हुए विविधताओं की नई–नई क़िस्में खड़ी करते नहीं थकते । उनका स्थायी भाव यही रहता है कि विविधता प्राणदायी

उन्मीलन - वर्ष 37, अंक 2, जुलाई-दिसम्बर 2024
ISSN-0974-0053
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, Sl.No. 310

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

है और उसकी हर क़ीमत पर रक्षा की जानी चाहिए (विविधता बची रहेगी तो एकता आ ही जायगी)। विविधता का उत्सव मनाते हुए इन विशेषज्ञों को विविधता ही मूल लगती है, इसलिए वे विखंडन में ही भविष्य देखते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि विविधता भी किसी एकता के सापेक्ष ही हो सकती है और सोची–समझी जा सकती है। भारत का विचार, जैसा कि वेद में कहा गया है, एक सत्य की अनेकधा अभिव्यक्ति का रहा है : एकं सत् विप्राः बहुधा वदन्ति।

यदि मूल का उच्छेदन करते हुए सिर्फ प्रकट विविधता पर ही ध्यान देते रहेंगे तो सत्य का केवल आंशिक और अधूरा परिचय होगा और गलत निष्कर्ष पर पहुँचा जायगा। इस अधकचरे ज्ञान से उपजने वाली विखंडन की प्रक्रिया आत्मघाती हो जाती है। इस तरह की सोच में बिना पूर्वापर का विचार किए किसी एक मूल से पैदा होने वाली हर नई इकाई एक दूसरे से स्वतंत्र हो जाती है और अन्य इकाइयों से प्रतिस्पर्धा में द्वन्द्व करती खड़ी होती है। यह बात आसानी से देखी जा सकती है कि इस तरह की विखंडनकारी परियोजनाओं की तार्किक परिणति प्रायः हिंसा में घटित होती दिखाई पड़ती है। यह तो जड़ को काटने या उखाड़ने जैसी बात लगती है, जिसके फलस्वरूप पूरे वृक्ष की सभी शाखा–प्रशाखाएँ निर्जीव या परोपजीवी हो जाएँगी।

भारत को स्वभावतः बिखरा हुआ और परस्पर असम्बन्धित देखने की प्रवृत्ति भारत की प्रकृति, इतिहास और संरचना के सत्य को अनदेखी करती है। वास्तविकता यह है कि भारत की विविधताएँ ख़तरे में हैं, इसका नारा देते हुए विविधताओं का उपयोग सिर्फ अपने सीमित अहंकार की पुष्टि और तात्कालिक हितों की तुष्टि के लिए ही किया जाता है। इस युक्ति का उपयोग करते समय यह भुला दिया जाता है कि भारत की मौलिक एकता और राष्ट्र के साथ रागात्मक सम्बंध की अनुगूँज ऋग्वेद से आरंभ होकर रामायण, महाभारत, विष्णु पुराण आदि से होते हुए रवि ठाकुर, सुब्रह्मन्य भारती, मैथिलीशरण गुप्त और रामधारी सिंह दिनकर समेत अन्यान्य रचनाकारों तक विस्तृत होता आ रहा है। सहृदयता के साथ सौमनस्य का स्वीकार और प्रसार का लक्ष्य समरसता और पारस्परिक निकटता की भावना से ही संभव हो पाता है। यह पृथ्वी नाना धर्म वालों और विविध भाषाओं के बोलने वालों का भरण–पोषण करती है। इसी अर्थ में भूमि माता है। देवता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

और मनुष्य भिन्न होते हुए भी परस्पर एक दूसरे पर निर्भर माने गए हैं, यहाँ तक कि भक्त जितना भगवान पर निर्भर होता है उतना ही भगवान भी भक्त पर निर्भर होते हैं। यही सोच कर यह आकांक्षा बार–बार की जाती रही कि विविधवर्णी समाज में बुद्धि, हृदय और मन सभी समान हों। साथ चलने, साथ बोलने और साथ मन बनाने पर बल दिया जाता रहा। भिन्नता तो है पर भिन्नताओं के बीच पारस्परिकता और परस्परनिर्भरता भी है। भिन्नता है, पर उसका अतिक्रमण करते हुए जीना उद्देश्य है। इसीलिए भारतीय मन सारी वसुधा को ही कुटुम्ब मान कर आगे बढ़ता है। जो भारत में जन्मा है उसकी भारतीयता भारत की विविधता को और उसकी समृद्धि को बढ़ाती है। यह अकारण नहीं है कि हिन्दू, बौद्ध, जैन और सिख जैसे भारत के सभी धर्म अहिंसा पर बल देते हैं जो दूसरों को मिटाकर नहीं, उनसे मन मिलाकर साथ रहने के मार्ग ढूढते हैं। इतिहास साक्षी है कि वे अन्य धर्मावलम्बियों की तरह आक्रान्ता कभी नहीं रहे और कभी उपनिवेश नहीं बनाया, न किसी समुदाय पर जुल्म ढाए।

इस प्रसंग में भारत विद्या के प्रख्यात अध्येता आनंद कुमारस्वामी स्मरण आते हैं, जिनके शब्दों में भारत की विश्व को सबसे बड़ी देन उसकी भारतीयता है। फिर भारतीयता की व्याख्या करते हुए वे एक सूत्र बताते हैं कि इस देश की प्रतिज्ञा है कि एक तत्त्व की प्रधानता और उसकी बहुलता वाली अभिव्यक्ति– एकोऽहं बहुस्याम और उस एक तत्त्व तक कई मार्गों से पहुँचा जा सकता है। एकता से विविधता जरूर पैदा होती है पर एकता ही मूल में है। जड़ और चेतन सब में एक तत्त्व की प्रधानता देखना यहाँ की चिंतन–शैली की प्रमुख विशेषता है। इस एकता की पराकाष्ठा ब्रह्म की अवधारणा में होती है, जो स्वयं अपने से सृष्टि करता है, वैसे ही जैसे मकड़ी स्वयं अपना जाल बुनती–बनाती है। बीज एक होता है और उससे वृक्ष पैदा होता है, जिसमें विकसित होने पर अनेक फल लगते हैं। इन फलों में नए बीज पैदा होते हैं और यह क्रम अनवरत चलता है। बीज अपना मूल अस्तित्व खो कर नया रूप पाता है। अक्सर बीज वृक्ष या पौधे की जड़ का रूप ले लेता है जो वृक्ष को धरती से जोड़ कर वृक्ष को जीवन रस देते रहने का काम करता रहता है। कोई खोजे तो बीज का कोई नामों–निशान नहीं पाएगा, पर बिना बीज के वृक्ष की कल्पना भी नहीं की जा सकती। बीज अपने रूपान्तर से नए को जन्म देता है और वृक्ष के तने, डालों, पत्तों, फूलों और फलों में रूप

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

बदल कर मौजूद रहता है। रूपांतर नाश नहीं होता है और पृथकता से नहीं, अपितु योग से ही कोई रचना परिपूर्णता को प्राप्त करती है। मैं पृथक् नहीं और दूसरा भी मुझसे पृथक् नहीं, ऐसा विश्वास और अनुभव होना चाहिए। किस तरह भिन्न अवयव मूल की प्रकृति से मिला रहता है, यह पहचानना जरूरी है। समष्टि और व्यष्टि की आँख–मिचौनी कई–कई रूपों में चलती रहती है और व्यष्टि की सार्थकता समष्टि के अवयव के रूप में होती है। किसी भी कपड़े में कई–कई धागे मौजूद होते हैं, पर अलग–अलग धागों को एक जगह रखने से कपड़ा नहीं बनता। दूसरी ओर एक ही तत्त्व के विभिन्न गुण पृथकता का अनुभव देते हैं, जैसा कि हमारे शरीर के सारे अंग–प्रत्यंग अलग–अलग कार्य करते हैं और मिल कर एक सत्ता का निर्माण करते हैं। विविधताओं का संजाल परस्पर मिला हुआ है और एक रचना का निर्माण करता है। इस तरह पार्थक्य केंद्रीय नहीं है। उसकी जगह सब मिल कर संयुक्त रूप में जो पूर्णता का अहसास कराते हैं वह महत्त्वपूर्ण है।

आज पूरे देश की बात विस्मृत सी हो रही है, जब कि इसके निर्माण में पूरे भारत के लोग एक समग्र सत्ता के बोध के साथ जुड़े थे और देश के स्वतंत्रता–संग्राम में बलिदान किया था। स्वतंत्रता के यज्ञ में आहुति देने वाले वीर पूरब, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण हर ओर से आए थे। वे हर धर्म और जाति के थे और देश के साथ उनका लगाव उन्हें जोड़ रहा था। उनके सपनों का भारत एक समग्र रचना है। यह इसलिए भी जरूरी है कि हम उनका भरोसा न तोड़ें और उनकी विरासत को साझा करें। उपनिवेश काल में जो छवि गढ़ी गई उस छवि से आगे बढ़ते हुए अपने समष्टिगत स्वरूप को पहचानने की जरूरत है। एक स्वायत्त राष्ट्र की चेतना वाला एक भारत ही श्रेष्ठ भारत होगा।

'भारत' और उसके सत्व या गुण–धर्म रूप 'भारतीयता' के स्वभाव को समझने की चेष्टा यथातथ्य वर्णन के साथ ही वांछित या आदर्श स्थिति का निरूपण भी हो जाती है। भारतीयता एक मनोदशा भी है। उसे समझने के लिए हमें भारतीय मानस को समझना होगा। यह सिर्फ ज्ञान का ही नहीं बल्कि भावना का भी प्रश्न है और इसमें जड़ों की भी तलाश सम्मिलित है। आज इस उपक्रम के लिए कई विचार–दृष्टियाँ उपलब्ध हैं, जिनमें पाश्चात्य ज्ञान–जन्य दृष्टि निश्चित रूप से प्रबल है और जिसने औपनिवेशिक अवधि में एक आइने का निर्माण किया जो राजनैतिक–आर्थिक वर्चस्व के साथ

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

लगभग सार्वभौमिक रूप से स्वीकृत हो गया। यद्यपि उसके पूर्वाग्रह दूषित करने वाले रहे हैं । उसकी बनाई छवि या आत्मबोध ने एक इबारत गढ़ी जो औपनिवेशिक शिक्षा द्वारा आत्मसात् कराई गई। इस क्रम में अंग्रेजी राज का 'अन्य' भारतीय जनों द्वारा 'आत्म' के रूप में अंगीकार किया गया। वेश–भूषा, राज–काज और बात–व्यवहार में अंग्रेजियत आभिजात्य और श्रेष्ठ होने का असंदिग्ध पर्याय और देसी (भारतीय) दोयम दर्जे का बना दिया गया। अंग्रेजों ने भारत को इंडिया बना दिया और हमने भी संविधान में वैसे ही दर्ज किया : इंडिया दैट इज भारत !

भारत और भारतीयता–विमर्श की चुनौती तब सचमुच और कठिन हो जाती है जब हम इस वैचारिक–परियोजना को देश और काल के ठोस यथार्थ के धरातल पर आयोजित करते हैं और भारत की अपनी देशज दृष्टि से आगे बढ़ते हैं। यह भारत–दृष्टि एक देशज दृष्टि है, एक अतिक्रामी दृष्टि है जो 'मैं' और 'तुम' की कोटियों से ऊपर उठकर समग्र सृष्टि को समेटने वाली है। साकल्य, जीवन की पूर्णता, क़र्म की भावना, समष्टि की उन्नति और भू–सांस्कृतिक राष्ट्रीयता बोध से समन्वित इस व्यापक विचार–परियोजना की कई सीमाएँ हैं। किसी प्रत्ययविशेष का दिक्कालातीत (या कहें शाश्वत) निरूपण अमूर्त जगत् में जिस निर्बंध विचरण की अपेक्षा करता है और जिसे अनिर्वचनीयता असहज नहीं करती है। यह एक अतिरिक्त सीमा हो जाती है। आज के यथार्थ के अति आग्रही काल खंड के दौर में यह सोच खामख़याली है, अचिंत्य है और सामान्यतया ग्राह्य ही नहीं है। अब निरवधि काल की चेतना को प्रायः निरस्त सा करते हुए सामान्य जन विज्ञान के सावधि और तत्काल इंद्रियानुभवगम्य प्रत्यक्ष तक ही अपने को सीमित–संकुचित करते जा रहे हैं। तात्कालिकता के घोर दबाव तले अपने को बरतने की मजबूरी कुछ ऐसी होती जा रही है कि आँख की ओट वाला (अव्यक्त) सब कुछ प्रश्नांकित और संदिग्ध होता जा रहा है। व्यवहार को मात्र सद्यः व्यक्त क्षण में ही स्थापित करने की तीव्रतर होती आकांक्षाओं के प्रति समर्पण करते हुए हम सत्य, यथार्थ और अस्तित्व के अनुभव–प्रामाण्य के तर्क तक ही अपने विमर्श को समेटते जा रहे हैं। यह अवश्य है कि हमारे आशय, अभीष्ट और उद्देश्य– यानी वह सब कुछ जो रोचक, सार्थक और निरंतर को जन्म देता है या दे सकता है– इस स्वतः आरोपित लौकिक परिधि को खंडित करते हुए हमें अनुमान की दुनिया में ले जाने वाला है। यह

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अज्ञात और अपरिचित होने पर भी 'संभव' को, अर्थात् भविष्य को व्यंजित करता है। वैसे भी शब्द (प्रतीक) का अर्थ उसकी लोक–व्याप्ति में ही परिलक्षित और गृहीत होता है।

वस्तुतः विचार और वास्तविक सत्य (ऑब्जेक्टिव रीएलिटी) या अमूर्त और मूर्त की कोटियाँ एक दूसरे को स्पर्श करती और गढ़ती हैं। भूत, वर्तमान और भविष्य बहुत हद तक कामचलाऊ भेद हैं, जो देश–काल के भीतर समकालीन अवस्थिति के साथ अनिवार्यतः बनते–बिगड़ते रहते हैं। भविष्य क्रमशः वर्तमान होता जाता है और वर्तमान भूत में तब्दील होने को तत्पर रहता है। यह भी ध्यातव्य है कि वाचिक परम्परा से आगे और उसके ह्रास के साथ अब सांप्रतिक परिदृश्य में बौद्धिक संकल्प और तकनीकी सहयोग न केवल इनकी प्रस्तुति (रिप्रेजेंटेशन) तय करते हैं, बल्कि इन तक हमारी पहुँच (एक्सेस) को घटाते–बढ़ाते रहते हैं और पुनरीक्षण तथा कृत्रिम बुद्धि की सहायता से पुनर्रचना का भी अवसर देते हैं। साथ ही वे अवसरानुकूल अपने हितसिद्धि के लिए सामग्री को 'क्लैसीफायड ड़ाक्यूमेंट' कहकर (सीमित अवधि या सदैव के लिए) प्रतिबंधित भी करते हैं। अतः आज के युग में हमारी अनुबंधित नियति हो गई है कि हम स्वयं को सतत आविष्कृत, परिभाषित और परिसीमित करते रहें और उसे अपने और दूसरों के लिए सतत प्रमाणित और प्रचारित भी करते रहें। स्वयं अपने लिए और दूसरों के लिए भी इस तरह का उद्यम सामाजिक अस्तित्व की एक अनिवार्यता सी हो रही है। कहना न होगा कि सांस्कृतिक परम्परा का संवर्धन इसी प्रकार के ज्ञान–आख्यान की प्रचलित प्रथाओं के अंतर्गत होने लगा है, जिसे आंतरिक (स्थानीय) और बाह्य (वैश्विक) अधिकृत शक्तियाँ संयोजित (और प्रायोजित) करती हैं। पेटेंट के दौर में यह स्पष्टतः एक तरह की ख़रीद–फरोख़्त जैसी प्रक्रिया होती जा रही है। अब ज्ञान से मुक्ति की कामना – सा विद्या या विमुक्तये – (इमेंसिपेशन) निरपेक्ष न हो कर सशर्त ही संभव है।

भारतीयता की अवधारणा 'भारत' से अविभाज्य रूप से सम्पृक्त है, जो निश्चय ही पृथ्वी का एक भू–भाग भी है पर वह भू–भाग मात्र ही नहीं है। भारतीयों के लिए वह मुख्यतः विचार तथा भाव का पवित्र विषय है। वह हमारी चेतना या सांस्कृतिक आत्मबोध का नियामक एक प्राथमिक अंश है। स्वाभाविक है कि भारत की स्थिति, प्रतीति और अनुभूति का सत्य निरपेक्ष

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

और अर्थशून्य न हो कर द्रष्टा, प्रेक्षक और भावक की पृष्ठभूमि यानी वैचारिक तैयारी और संलग्नता पर ही निर्भर करेगा। मनुष्य की वाचिक ढंग की प्राचीनतम रचना 'वेद' के समय से ही भारत–वसुंधरा की छवि जीवनदायिनी माता के रूप में संकल्पित की जाती रही है। हाड़–मास का बच्चा माता के शरीर से निर्मित होता है, गर्भ में उसके रक्त से पलता है, आकार पाता है और जन्म के उपरांत उसके दूध के आहार पर जीता है। माता की उपस्थिति संतति की अपरिहार्यता है। यद्यपि माता और संतति के मध्य का यह स्वाभाविक सम्बन्ध एक चिरंतन सत्य है और तादात्मीकरण का सहज आधार बनाता है; तथापि इस सम्बन्ध को व्यापक सामाजिक – आर्थिक और राजनैतिक परिवेश न्यस्त रुचि और लाभ के मद्देनजर भिन्न–भिन्न अर्थ देता रहता है। फलतः विभिन्न काल खंडों में सामाजिक यथार्थ और सामाजिक स्मृति के रूप में अस्मिता–निर्मिति अलग–अलग रूप लेती रहती है या कि उसके अलग–अलग पक्षों पर बल दिया जाता रहा है। ऐसे में भिन्न–भिन्न प्रेरणाएँ उदित और अस्त होती रही हैं। कुछ भू–क्षेत्रों में समाज के स्तर पर विशिष्ट प्रवृत्तियाँ भी परिलक्षित हुई हैं। विश्व–पटल पर दृष्टिपात करें तो साम्राज्यवादी, उपनिवेशवादी और हिंसा तथा शोषण को प्रश्रय देने की प्रवृत्ति का कुछ क्षेत्रों में बाहुल्य इस परिघटना का प्रमाण देते आ रहे हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो सभ्यता और संस्कृति की सतत प्रवाहमान मानवी गाथा में अनेक प्रवृत्तियों का संघात मिलता है। इसमें निरंतरता और परिवर्तन दोनों ही धाराओं को आकार मिलता रहा है।

इतिहास की नब्ज थामे गुरुदेव रविन्द्र नाथ टैगोर 'भिन्न के योग में निहित छंद' और 'ताल बचा कर समय तक पहुँचने' को मनुष्यत्व का निकष घोषित करते हैं। भारतीय इतिहास का आरंभ आर्य–अनार्य के जाति–संघर्ष की कथा के साथ ग्रहण करते हुए वे भारतीय महाकाव्यों का सर्जनात्मक सामाजिक–ऐतिहासिक विचार करते हैं। वे आर्य–अनार्य सभ्यता के बीच संघर्ष और रामचंद्र की विजय का रोचक विश्लेषण करते हैं। वे भागवत इतिहास और पुरातन–नूतन के विरोध का सम्यक् विचार करते हैं। उनकी दृष्टि में 'जातियों के संघात से आत्म–प्रसारण की जगह आत्म–रक्षा की वृत्ति' बलवान हुई। उनकी दृष्टि में आर्य–अनार्य का चिंतन सम्मिश्रण सौंदर्य के उदय का कारण बना। गुरुदेव का सूत्र वाक्य है – "बहुत्व के बीच अपने आपको बिखराना भारत वर्ष का स्वभाव नहीं है। वह 'एक' को प्राप्त करना

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

चाहता है, इसलिए बाहुल्य को एकत्र में संयत करना ही उसकी साधना है। भारत की अंतरतम सत्य–प्रकृति स्वयं उसे निरर्थक बहुत्व के भीषण योग से बचाएगी"। गुरुदेव अंतरराष्ट्रीयता पर भी टिप्पणी करते हैं : अपने को त्याग करके दूसरों की चाहना जिस तरह निष्फल भिक्षुकता है, उसी तरह दूसरों का त्याग करके अपने को संकुचित करना दारिद्रय है, चरम दुर्गति है"। उनकी राय में अपने देश में सर्वदेशों को और सर्वदेशों के बीच ही अपने देश को सत्य के रूप में पाया जा सकता है।

अमृत–महोत्सव के संदर्भ में गुलामी की मानसिकता से मुक्त होने के लिए आह्वान इसका स्मरण दिलाता है कि देश की आजादी अधूरी है। हम आज भी मानसिक रूप से पूरी तरह से स्वाधीन नहीं हो सके हैं। पराधीनता के बंधन में दास स्वामी की दृष्टि से स्वयं को और अपनी दुनिया को देखने का भी अभ्यस्त हो जाता है। अभ्यास में आने के बाद जब हम उसके आदी हो जाते हैं तो हमारी भावना, विचार और कर्म सभी उससे अनुबंधित हो जाते हैं। उसकी तीव्रता का अहसास भी ख़त्म होने लगता है और तब दासता दासता नहीं रह जाती। स्वतंत्रता की भ्रामक चेतना में गुलाम अपने आका की ख़ुशी में ही अपनी भी ख़ुशी देखता है। गुलामी की सोच या मनोवृत्ति (माइंड सेट) संकुचित या प्रतिबंधित दृष्टि के साथ बंधी बंधाई लीक पर चलने को बाध्य करती है। अनुगमन और अनुकरण करते रहना अपनी नियति मान कर इस तरह की सोच सर्जनात्मकता से भी विमुख करती है। इस मनोदशा का आदमी यह मान बैठता है कि कुछ भी नहीं हो सकता। इस हाल में आदमी के ऊपर संशय, अनिश्चय और हीनता की ग्रंथि हावी होने लगती है।

भारत का स्वतंत्रता संग्राम अंग्रेजी साम्राज्य की जिस गुलामी के विरुद्ध लड़ा गया था, उससे देश को राजनैतिक स्वाधीनता तो 1947 में मिली, परंतु आज जब देश की कमान स्वतंत्र देश में जन्मे नेताओं के हाथ में है तो स्वराज के अधूरेपन की टीस हरी हो रही है। पराधीन भारत में महात्मा गाँधी ने 1909 में हिन्द स्वराज में बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा था कि सिर्फ अंग्रेजों और उनके राज्य को हटाने भर से स्वराज की प्राप्ति संभव नहीं है। उनके जाने पर भी उन्हीं की सभ्यता और उन्हीं के आदर्श यदि बने रहें, तो व्यावहारिक रूप से हम पहले जैसे ही बने रहेंगे। अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने पश्चिम की सभ्यता को शैतानी सभ्यता घोषित किया और अपनी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

शंकाएँ व्यक्त की थीं। महात्मा गाँधी में गुलामी का प्रतिरोध और अस्वीकार के साथ भारत की आत्मा की पहचान भी थी और उस चेतना को जगाने के लिए ही उन्होंने पश्चिमी सभ्यता की प्रखर आलोचना की थी। स्वराज के इस संकल्प–पत्र का प्रतिफलन भारत में 1915 में आने के बाद के उनके निजी जीवन और सार्वजनिक उद्यम में देखा जा सकता है। पराधीन भारत में अपने आचरण और व्यवहार में गाँधी जी ने स्वराज की संभावना की मूर्त छवियाँ भी प्रस्तुत कीं। उनके आश्रम और आन्दोलन इसकी सामाजिक प्रयोगशाला बने। इस दृष्टि से गाँधी जी का रचनात्मक कार्यक्रम सामाजिक क्रांति का आगाज था, जिसमें हिंसक आधुनिक सभ्यता के चंगुल से छूटना मुख्य ध्येय था। उन्होंने पूर्ण स्वराज्य पाने के कार्यक्रम में राजनीतिक पहल और सामाजिक रचनात्मक कार्यक्रम दोनों की भूमिका को रेखांकित किया। वे सविनय अवज्ञा या सत्याग्रह को रचनात्मक कार्यक्रम का सहायक मानते हैं और देश की समृद्धि का मार्ग प्रशस्त करने वाला कहते हैं। इस तरह उन्होंने औपनिवेशिकता का विकल्प सामाजिक परिवर्तन के रूप में प्रस्तुत किया था। गाँधी जी के शब्दों में रचनात्मक कार्यक्रम ही पूर्ण स्वराज्य या मुकम्मल आजादी को हासिल करने का सच्चा और अहिंसक रास्ता है। सिर्फ अंग्रेजी सत्ता की समाप्ति नहीं बल्कि सर्वोदय उनका उद्देश्य था। वे एक जीते–जागते निरामय समाज का निर्माण चाहते थे. स्वतंत्र भारत की कथा में बहुत सारे उतार–चढ़ाव आए और सम्पूर्ण स्वराज आज भी अधूरा है। आज भ्रष्टाचार, पाखण्ड और नैतिक मूल्यों के ह्रास से देश जूझ रहा है। सार्वजनिक जीवन में मर्यादाएँ टूट रही हैं।

इस स्थिति के निर्माण में अनेक कारण हैं, पर औपनिवेशिक आधिपत्य और उसके बाद हमने जो मार्ग अपनाया उसकी मुख्य भूमिका को नकारा नहीं जा सकता। आधुनिकता का लबादा ओढ़ कर औपनिवेशिकता हावी रही और एक सभ्यता के रूप में हम उसका समाधान नहीं कर सके। औपनिवेशिक दौर में आर्थिक असमानता खूब बढी थी और बाद में ऐसी संस्थाएँ खड़ी की गईं जो उनका प्रभुत्व बनाए रखें। उपनिवेशवाद मूलतः शोषण, दमन और हिंसा से बनता है। तीव्र वैश्वीकरण के युग में भी आज देश के आत्मबोध को सशक्त बनाने के लिए पश्चिम के औपनिवेशिक विचार के खांचों से बाहर निकल कर देखना होगा। परन्तु गुलामी की मानसिकता से मुक्ति पश्चिमी दृष्टि से ही मुक्ति नहीं है। जैसा कि सर्वविदित है, बर्तानवी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

साम्राज्य ने आधिपत्य जमा कर आर्थिक शोषण तो किया ही, साथ ही साथ सांस्कृतिक व्यवस्था को भी समूल नष्ट करने की भरपूर कोशिश की। दुर्भाग्य से स्वतंत्र भारत में भी भारतीय सभ्यता का ज्ञान की दृष्टि से योगदान पश्चिमाभिमुख बुद्धिजीवी वर्ग ने पहचाना ही नहीं। भारत की आत्मा तो बंधन में ही रही. इसकी सामग्री और सैद्धांतिकी की लगातार उपेक्षा होती रही। साहित्य और संस्कृति का आधार भाषा होती है और देश की भाषाओं की हत्या की जाती रही। विचार और कल्पना पर भाषा का क्या प्रभाव पड़ता है, यह जान कर औपनिवेशिक प्रभाव को बनाए रखने के लिए अंग्रेजी भाषा को स्थापित किया गया। भाषा सिर्फ संचार का माध्यम ही नहीं बल्कि संस्कृति की वाहिका भी होती है। उसमें इतिहास, भावनाएँ और सामाजिक चेतना भी निवास करती है। भाषा में सांस्कृतिक मूल्य और आदर्श रचे–बसे होते हैं। भाषा की अपनी विश्व–दृष्टि भी होती है। आरोपित भाषा हमें अपने विचार, मूल्य और कल्पना से विलग करती है। तब हम अपने से बाहर निकल कर खुद (स्व) को देखने और पहचानने का काम करते हैं; मानों कि वह कोई (अन्य) दूसरा है। कल्पना का यह आइना यूरोप, उसकी संस्कृति को केंद्र मानकर सारी दुनिया उसी की दृष्टि से देखता है। थोड़ा विचार करें तो यही लगता है कि भाषा में लोक के अनुभवों का सामाजिक स्मृति कोश स्पंदित होता रहता है और उसे संस्कृति से अलग करना मुश्किल है। अंग्रेजों ने अपनी भाषा लादकर, हम खुद को और दुनिया को कैसे देखते हैं, इस पर नियंत्रण किया। इस उपकरण से मानसिक जगत् को हथियाने का काम किया गया। जब देश को आजादी मिली तो हम राजनीतिक दृष्टि से 'इंडिपेंडेंट' तो हुए पर अंग्रेजी और अंग्रेजियत, यूरोपीय ज्ञान, शासन–संरचना और उसकी परम्परा से मुक्ति नहीं मिली। पश्चिम के मानस कारागृह से बाहर निकलना न हो सका। सभ्यता के आलोक में वर्तमान से संवाद नहीं हुआ। यही नहीं पश्चिम की आलोचना भी उन्हीं के दिए खांचे में होने लगी।

इस चर्चा में भारत की पहचान और उसका स्वरूप एक विचारणीय प्रश्न के रूप में उभरता है। निश्चय ही भारत की विविधता और बहुलता उसकी एक उल्लेखनीय विशेषता है, जो संरचना और स्वभाव की दृष्टि से उसे राष्ट्र–राज्य (नेशन स्टेट) के विचार के सामने सभ्यतामूलक देश की अवधारणा की ओर अधिक उन्मुख करती है। इसी से यह देश प्राचीन काल से परिचित रहा है और यहाँ का लोक–मानस इसी ढंग से काम भी करता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

है। यहाँ की धरती पर उपजे और पनपे विचारों में लोक, जन और सर्व जैसे विचार बड़े पुराने प्रतीत होते हैं. उसी की अभिव्यक्ति है कि आज भी 'हम' शब्द का 'मैं' के अर्थ को व्यक्त करने के लिए प्रयोग में प्रचलित है। अभी भी अनोखे और अकेले व्यक्ति की तुलना में सामूहिक और क्षेत्रीय पहचान अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि मानव शिशु का जन्म परिवार में होता है और उसकी समूह–निर्भरता जीवन जीने की एक प्राथमिक शर्त बन जाती है। समूहप्रियता का प्रयोजन और उपयोगिता एक सार्वजनीन सत्य है। एक प्राथमिक समूह के रूप में परिवार सहज रूप में उपलब्ध रहता है और भारतीय परम्परा में माता–पिता और परिवार के अन्य सदस्यों का एक संजाल (नेटवर्क) स्वाभाविक या नैसर्गिक रूप में सक्रिय रहता है। समूह का हो जाने पर ही व्यक्ति को पूर्णता का अहसास होता है। यहाँ पर यह विचार अधिक प्रचलित और स्वीकृत है कि अकेला अधूरा होता है। यहाँ जुड़ने की छटपटाहट और बेचैनी स्वाभाविक रूप से दिखती है। वैयक्तिकता कृत्रिम और अस्वाभाविक है। व्यक्ति के लिए उसकी अपनी सत्ता का अतिक्रमण करना ही विकास का उद्देश्य होता है। अहं के स्वच्छंद विस्तार की जगह उसका नियंत्रण व्यक्ति के विकास का एजेंडा होना चाहिए। अगर वेदांत 'अहं ब्रह्मास्मि' का उद्घोष करता है तो वहाँ भी अपने विस्तार की बात है, ताकि व्यक्ति का स्व सर्वसमावेशी हो जाय। सबको साथ लेकर चलने वाला स्व ही मुक्त होता है। बंधनों से मुक्त होने पर ही अपने स्वरूप का पता चलता है। भारत को मानसिक गुलामी से उबरने के लिए उसे अपने स्वरूप और अस्मिता को अपनी दृष्टि से पुनः पहचानना होगा। अपने आत्मस्वरूप का अस्तित्व (होनापन) ही अध्यात्म है :

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः।।

श्रीमद्भगवद्गीता (अध्याय 8/3)

परम अक्षर ब्रह्म है और स्वभाव परा प्रकृति (जीव) को अध्यात्म कहते हैं। प्राणियों की सत्ता को प्रकट करने वाला त्याग कर्म कहा जाता है।

307, टावर-1, पार्श्वनाथ मैजेस्टिक
फ्लोर्स, इंदिरापुरम, (वैभव खंड),
गाजियाबाद-201014 (उत्तर प्रदेश)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

भाषाई उपनिवेशन के तीन मॉडल और सांस्कृतिक बिचौलिये

अभय कुमार दुबे

उपनिवेशवाद के तहत गढ़े गए भाषा और ज्ञानमीमांसा के समीकरण का आलोचनात्मक अध्ययन करने वाली नयी विद्या सत्तर और अस्सी के दशक से ही सामने आ रही है।[1] मेरा यह लेख इसी विमर्श में एक मामूली सा योगदान है। यहाँ जिसे उपनिवेशवाद की भाषाई विचारधारा करार दिया गया है, उसके विभिन्न घटक इस विपुल और गहन विमर्श में जगह–जगह मौजूद हैं। जैसे ही इन्हें एक निश्चित क्रम में रखा जाता है, एक सुनिश्चित विचारधारा की रूपरेखा सिलसिलेवार ढंग से उभरने लगती है।

उपनिवेशवाद की यह भाषाई विचारधारा बताती है कि कोलम्बस द्वारा किया गया पहला उपनिवेशन हथियारों के ज़रिये नहीं, बल्कि स्पेनी भाषा और रोमन क़ानून के मिले–जुले उपादान से शुरू हुआ था। हथियारों की भूमिका तो उसके बाद आई। दिलचस्प बात यह है कि जब हथियार अपना काम कर रहे थे, उस समय भी 'रिक्वायरिमेंटो' के रूप में भाषा उपनिवेशन का औजार बनी हुई थी। जैसे ही हथियारों ने 'कोंक्वेस्ट' के ढाँचे को मज़बूत करने का काम पूरा किया, भाषा फिर से मंच पर आ गई। इस दूसरे चरण में उपनिवेशवाद के इस भाषिक अभियान की बागडोर ईसाई पादरियों के हाथ में थी। 'कोंक्विस्टा पेसिफ़िका' के रूप में ईसाइयों ने उपनिवेशितों के भाषिक संसार में हस्तक्षेप किया, ताकि उनके समाज को बहुमुखी अंतरण के दौर से गुजारा जा सके। ज़्वेतान तोदोरोव ने अमेरिका के उपनिवेशन की गहन व्याख्या करते हुए बताया है कि अमेरिका के मूलवासियों पर क्रिस्टोफ़र कोलम्बस जैसे नाविक और हरनान कोर्टेज़ जैसे कोंक्विस्टाडोर की जीत मुख्य तौर पर एक 'सीमेंटिक' (शब्दों और वाक्यों के अर्थ से संचालित) जीत थी। अपने इस ख़ास क़िस्म के किरदार के कारण

उन्मीलन – वर्ष 37, अंक 2, जुलाई–दिसम्बर 2024
ISSN-0974-0053
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, SI.No. 310
यशदेव शल्य स्मृति व्याख्यान (तृतीय), 26 जून 2024

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

ही इस जीत का नतीजा हथियारों के दम पर स्थापित साम्राज्य और उसकी क्रूरताओं तक ही सीमित नहीं रहा, बल्कि रणजीत गुहा की पदावली का इस्तेमाल किया जाय तो उसने उपनिवेशितों के मानस की एक ऐसी बौद्धिक शल्यक्रिया कर दी, जो चिरस्थायी साबित हुई।

यह आलेख पाँच हिस्सों में बँटा हुआ है। पहले हिस्से में उस नयी विद्या के चौदह सूत्रों को पेश किया गया है, जो उस विमर्शी–योजना की रूपरेखा बनाते हैं और जिसके ज़रिये उपनिवेशवाद की भाषाई विचारधारा को अनावृत्त किया जा सकता है। दूसरे हिस्से में कोलोनियल–स्टडीज़ के विकास के साथ–साथ भाषा के मुद्दे की उपेक्षा के फलितार्थों की समीक्षा है। तीसरा हिस्सा विश्व ईसाई प्रतिष्ठान के उस भाषा संबंधी अध्याय का आलोचनात्मक विवरण देता है, जो पिछले पाँच सौ साल से भाषाई उपनिवेशन के विराट उपक्रम की तरह उभरा है। चौथा हिस्सा कोलम्बस द्वारा किये गए पहले उपनिवेशन में भाषा की भूमिका को स्पष्ट करता है। इसके पाँचवे हिस्से में भाषाई उपनिवेशन के तीन मॉडलों और सांस्कृतिक बिचौलियों के उत्पादन को केंद्रस्थ किया गया है।

I

वि–उपनिवेशीकरण के लिए 14 सूत्रीय विमर्शी–योजना

इस विचारधारा के संधान से संदेश निकलता है कि यदि उपनिवेशवाद की भाषाई और विमर्शी रणनीतियों की भूमिका को उसके विविध आयामों में अनावृत्त नहीं किया गया तो वि–उपनिवेशीकरण अधूरा रह जाने के लिए अभिशप्त रह जाएगा। दरअसल विभिन्न अनुशासनों से ताल्लुक़ रखने वाले इन विद्वानों ने उन साहित्यकेंद्रित विमर्शों की सीमाओं को भी उजागर किया है, जिन्हें उत्तर–औपनिवेशिक विमर्श की श्रेणी में रखा जाता है, और जो मुख्यतः सामाजिक–राजनीतिक शून्य में किये गये शोध की देन हैं।[2] युरोकेंद्रीयता द्वारा थमाये गये औजारों से किये गए ऐसे अनुसंधानों से अलग हटते हुए यह नयी विद्या मुख्य तौर पर दो लक्ष्यों को वेधने की कोशिश करती है। पहला, उसने औपनिवेशिक और नव– औपनिवेशिक भाषाई रणनीतियों की गहन और आलोचनात्मक जाँच– पड़ताल की है; दूसरा, उसने अपने आलोचनात्मक चिंतन पर आधारित एक विमर्शी–योजना (कुछ नीतिगत प्रस्तावों समेत) का सूत्रीकरण किया है, जिसके ज़रिये इतिहास को एक ख़ास क्रम से देखकर 'मानस के वि–उपनिवेशीकरण' की दिशा में बढ़ा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

जा सकता है। इस विद्या द्वारा निकाले गए निष्कर्षों को चौदह निम्नलिखित बिंदुओं में इस प्रकार सूत्रबद्ध किया जा सकता है।

पंद्रहवीं सदी में उपनिवेशीकरण की शुरुआत के समय दुनिया बहुकेंद्रीय थी। चीनी सभ्यता (मिंग राजवंश की राज्य–प्रणाली), इस्लामिक सभ्यता (ओटोमन और सफ़ाविद राज्य–प्रणालियाँ), भारतीय सभ्यता (मुग़ल राज्य–प्रणाली), रूसी सभ्यता (ज़ारशाही), अफ़्रीकी सभ्यता (ओयो और बेनिन राज्य–प्रणालियाँ), अमेरिकी सभ्यता (इंका और अज़्टेक साम्राज्यों की प्रणालियाँ) मोटे तौर पर शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व में रह रही थीं। ग्रीको–रोमन सभ्यता के तहत आने वाले युरोपीय राष्ट्रों (स्पेन, पुर्तगाल, ब्रिटेन, फ़्रांस, जर्मनी, हालैंड, इटली और बेल्जियम) द्वारा चलाई गई उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया ने इस बहुकेंद्रीयता और सभ्यतापरक सह–अस्तित्व को अगले पाँच सौ साल में धीरे–धीरे खत्म कर दिया। आज सारी दुनिया में मोटे तौर पर एक ही तरह के पश्चिमी लोकतंत्र या उससे मिलती–जुलती राज्य प्रणालियाँ, एक ही तरह की पूँजीवादी वित्तीय व्यवस्था, एक सी उत्पादन प्रणाली, एक ही प्रकार की प्रौद्योगिकी, एक ही तरह की पोशाक, एक जैसे मनोरंजन, एक ही तरह के सार्वजनिक जीवन और एक जैसी ज्ञानमीमांसा की संरचनाएँ थोड़े–बहुत हेर–फेर के साथ प्रचलित हैं।

उपनिवेशीकरण की शुरुआत मुख्य तौर पर ईसाई नरेशों द्वारा आइबेरियन द्वीप समूह पर क़ाबिज़ मुसलमान राजसत्ता (अफ़्रीकी मूल के श्यामवर्णीय मूरों द्वारा शासित रियासतें) के खिलाफ चलाई गई सदियों लम्बी 'रिकोंक्विस्टा' की युद्ध–मुहिम से जुड़ी है। (711 में मूरों ने आइबेरिया पर क़ब्ज़ा किया। ईसाई देश लगातार उनके खिलाफ 'रिकोंक्विस्टा' का अभियान चलाते रहे, और 1492 में ग्रैनाडा की रियासत छिनने के साथ मूरों की अंतिम पराजय हुई।) क़रीब पाँच सौ साल से ज्यादा चली इस युद्ध–मुहिम के कारण सोने–चाँदी और अन्य संसाधनों की जरूरत काफ़ी बढ़ी। इसी अवधि में पुर्तगालियों और स्पेनियों ने लम्बी समुद्री यात्राएँ करने और उसके दौरान सही रास्ता सुनिश्चित करने के लिए जहाज़रानी से संबंधित अरबों द्वारा विकसित प्रौद्योगिकी हड़प ली। इसका लाभ उठा कर स्पेन और पुर्तगाल के नाविकों ने राजदरबारों के साथ मिल कर बनाई योजनाओं के तहत सोने–चाँदी, मसालों और ईसाइयों की खोज में नयी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

दुनिया और पूर्व की खोज करके उसके उपनिवेशीकरण का रास्ता साफ किया। इस प्रक्रिया को युरोईसाइयत ने धर्मशास्त्रीय वैधता दी। संत ऑग्स्तीन (354–430) से लेकर थॉमस एक्विनस (1225–1275) तक ने यूनानी फ़िलॉसफ़ी के साथ अपनी समरसता बैठाई, और रोमन लॉ के प्रावधानों को अपनाया। इस तरह उपनिवेशीकरण को उसका मजहब, फ़िलॉसफ़ी और वैधानिकता मिली।

उपनिवेशीकरण ने जिस साम्राज्यिक संरचना को विकसित किया, वह साम्राज्यों के विश्व–इतिहास में अनूठी थी। इससे पहले के साम्राज्यों द्वारा भी विजित समुदायों, आबादियों और संस्कृतियों का उत्पीड़न किया जाता था। लेकिन साम्राज्यशाहियाँ किसी न किसी प्रकार विजितों के मज़हबी–धार्मिक–सामाजिक मूल्यों के साथ रहने की गुंजाइशें निकाल लेती थीं। मंगोलों के साम्राज्य को इस बात पर गर्व था कि उनके राज्य में बुद्ध धर्म, इस्लाम, ईसाइयत के साथ मंगोलों के बहुदेववादी टेंगरी धर्म का सह–अस्तित्व है। भारत में मुग़ल सम्राट अकबर के तहत इस्लाम राजकीय धर्म जरूर था, लेकिन यह अवधि उस साम्राज्य की बहुधार्मिकता के लिए भी जानी जाती है। इसी तरह मुग़ल साम्राज्य के आखिरी दौर में विकसित हुई बहुचर्चित सामासिकता को कौन नजरअंदाज कर सकता है। आइबेरियन द्वीप के देशों पर हावी मूरों की राजसत्ता में भी जिहाद के पहलू थे, लेकिन उसे 'कन्वीवेंसिया' (मैत्रीपूर्ण सह–अस्तित्व) की संरचनाओं के लिए भी जाना जाता है। कन्वीवेंसिया के तहत अगर मूरों की हुकूमतों में कैथॅलिक ईसाइयों को अल्पसंख्यक यहूदियों और सत्ताधारी मुसलमानों के साथ कभी कम और कभी अधिक परस्पर सहिष्णुता के साथ रहने की गुंजाइशें न मिलतीं, तो सैकड़ों वर्षों की विजित स्थितियों में उनका समूल नाश हो गया होता। इसके विपरीत औपनिवेशिक साम्राज्य ने अधीनस्थ देशों को शुरू से ही एक प्रयोगशाला के रूप में देखा। औपनिवेशिक महाप्रभुओं ने अपनी (युरोपीय) सैद्धांतिकी को गैर–युरोपीय समाजों की ज़मीन पर विभिन्न प्रयोगों के जरिये आजमाया। इन समाजों पर एक 'प्रायौगिक सभ्यता' आरोपित करने के लिए उन्होंने 'बहुमुखी अंतरण' (धर्म, भाषा, ज्ञान, संस्कृति) की प्रौद्योगिकियों का इस्तेमाल करने की कोशिश की। इस प्रयास की बुनियाद में भी भाषाई स्वजाति–उत्कृष्टता, एकभाषिता और 'जेनेसिस' के मुताबिक़ राष्ट्रों और भाषाओं के वंशवृक्ष बना कर उन्हें मानवीय इतिहास की प्रगति–अवनति का वाहक मानने की धारणाएँ थीं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

भाषा और साम्राज्य शुरू से ही अंतर्संबंधित थे। स्पेन के जिस राजदरबार का हाथ कोलम्बस की पीठ पर था, उसी दरबार के शाही विद्वान अंतोनियो नेब्रिजा पहले ही दलील दे चुके थे कि भाषा हमेशा से साम्राज्य की आज्ञाकारी सहचरी रही है। नेब्रिजा का कहना था कि दूर–दूर तक फैले हुए साम्राज्य को प्रबंधित करने के लिए बोली–बरती जाने वाली नाना प्रकार की भाषाओं पर एक राजकीय भाषा आरोपित करना अनिवार्य है। दरअसल, उपनिवेशवाद का पूरा खेल एक जटिल भाषाई खेल भी था, जिसके जरिये उसकी बुनियाद को मज़बूत किया गया, उसकी निरंतरता सुनिश्चित की गई और सत्ता हाथ से निकल जाने के बाद भी औपनिवेशिक ज्ञानमीमांसा और विश्व–दृष्टि को जारी रखा गया। यह भाषाई प्रपंच व्यक्तिगत न होकर एक सामूहिक परिघटना थी, जिसके ज़रिये सम्पादन, अनुवाद, संग्रह, मुद्रण और भाषा–शिक्षण की युक्तियों से युरोपियनों ने उपनिवेशित सभ्यताओं से कई बातें सीख कर स्वयं को समृद्ध किया, और इस प्राप्त ज्ञान के बदले कृतज्ञता व्यक्त करने के बजाय उपनिवेशितों की परम्पराओं, ज्ञान और भाषाओं को अधिकांशतः या तो नष्ट कर दिया, या उन्हें आमूलचूल बदल कर कुछ का कुछ बना दिया। इस विनिमय को एक अलग तरह का 'कोलम्बियन–एक्सचेंज' भी कहा जा सकता है। (यह अलग बात है कि अधिकांशतः 'कोलम्बियन–एक्सचेंज' को नयी दुनिया के खेतिहर उत्पादों के बदले युरोपीय महामारियों का प्रकोप देने की प्रक्रिया से ही जोड़ा जाता है।)[3]

उपनिवेशवादियों ने अपनी श्रेष्ठता साबित करने के लिए यूरोपीय प्रबोधन से निकले तीन विचारों का मुख्यः रूप से इस्तेमाल किया। इनमें पहला था सभ्यताओं का पदानुक्रम, जिसके आधार पर तय किया गया कि जो सभ्यताएँ निकृष्ट अवस्था में हैं, उन्हें युरोपीय मानकों के मुताबिक उत्कृष्ट अवस्था में पहुँचाना उपनिवेशकों का कर्तव्य है। उत्कृष्ट सभ्यता का मानक था उत्कृष्ट भाषा। भाषा की उत्कृष्टता नस्ली श्रेष्ठता की पर्याय मानी गई, और प्रकारांतर से नस्ली श्रेष्ठता भाषाई उत्कृष्टता की गारंटी करार दे दी गई। भाषाई पदानुक्रम और सभ्यता संबंधी पदानुक्रम एक–दूसरे के पर्याय बने। इस समीकरण में भाषा, नस्ल और राष्ट्र के समुच्चय की अहम भूमिका रही। दूसरा था इतिहास का चक्रीय विचार। इससे उपनिवेशकों ने 'पतन और गिरावट का विमर्श' निकाला, जिससे उन्हें सुविधा मिली कि

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पारम्परिक रूप से श्रेष्ठ सभ्यताओं और संस्कृतियों के 'स्वर्णिम अतीत' को उनके 'पतनशील समकाल' के बरक्स रखा जा सके, और उनके ऊपर भी अपना साभ्यतिक मिशन आरोपित किया जा सके। चक्रीय इतिहास की इस दलील का नियोजन एक ख़ास तरह की कुशलता से करते हुए उपनिवेशकों ने युरोपीय समाजों और भाषाओं को उत्थान, फिर पतन और फिर उत्थान की ऐतिहासिक अनिवार्यता से बच निकलते हुए निरंतर विकासमान रहने की असाधारण क्षमताओं से सम्पन्न दिखाया। इसी से जुड़ा तीसरा विचार था– लम्बे अंधकारपूर्ण मध्ययुग का। इसके मुताबिक उपनिवेशकों ने भारत जैसे समाजों के मध्ययुग की सांस्कृतिक और ज्ञानात्मक उपलब्धियों को पूरी तरह से ख़ारिज करके उनके सामने प्राचीन स्वर्ण युग से सीधे 'आधुनिक' उत्कृष्टता में छलांग लगाने का कार्यक्रम पेश किया। नव–प्राच्यवाद[4] के बौद्धिक उपकरण ने इसमें प्रमुख भूमिका निभाई।

नव–प्राच्यवाद ने जिस ज़मीन पर उपनिवेशवाद की भाषाई विचारधारा को नये मुकाम पर पहुँचाया, वह ज़मीन भारत की थी। अठारहवीं सदी के नवें और दसवें दशक में कलकत्ता में एशियाटिक सोसाइटी के मंच पर एक ऐसी भाषिक परिघटना का सूत्रीकरण किया गया, जिसका नाम था भारोपीय भाषा परिवार (इंडो–युरोपीय लेंग्वेज फेमिली)। इसमें यह विचारधारा अपने सभी पहलुओं और अपनी पूरी शक्ति के साथ विद्यमान थी : सभ्य और बर्बर (आर्य बनाम द्रविड़) का भाषा आधारित द्विभाजन, भाषा और राष्ट्र का जोड़, भाषा और नस्ल का जोड़, इंजीली समझ के मुताबिक भाषाओं का वंशवृक्ष, और हिंदू धर्म की आद्योपांत ईसाई पुनर्रचना (इंजीली प्रारूप पर वेदों और पुराणों का पाठ करना)। इस सूत्रीकरण के पीछे ब्रिटिश संस्कृतज्ञों और युरोपीय भारतविद्या की प्रमुख भूमिका थी। इसके गर्भ से आर्यवाद निकला, जिसने युरोप के भविष्य को प्रदूषित कर दिया, और भारतीय राजनीति व सार्वजिनक जीवन को कुछ इस तरह बदल दिया कि हर किस्म के अकादमीय खंडन के बावजूद यह विचार आज तक हमारे राष्ट्रीय मानस का अंग बना हुआ है।

उपनिवेशीकरण की भाषाई और शैक्षिक नीतियों ने एशिया, अफ़्रीका और अमेरिका में युरोकेंद्रित ज्ञानमीमांसा का बोलबाला स्थापित किया। इसके लिए उपनिवेशवादियों ने एक लम्बी प्रक्रिया के तहत वहाँ सहस्राब्दियों से प्रचलित ज्ञानार्जन की संस्कृत और फ़ारसी जैसी स्थापित

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

भाषाओं (जिन्हें युरोपीय प्रभाव में हम 'क्लासिक' भाषाएँ कहते हैं) और उनके साथ अन्योन्यक्रिया में विकसित देशभाषाओं (जिन्हें हम पश्चिमी तर्ज़ पर बिना सोचे–समझे 'वर्नाक्युलर्स' कहते हैं) को ज्ञानार्जन की प्रक्रिया से काट दिया। परिणामस्वरूप उपनिवेशों की स्थानीय भाषाएँ अपनी आबादी को पश्चिमी ज्ञान की शिक्षा देने का स्पंदनहीन औजार बन कर रह गईं। उनमें ज़्यादा से ज़्यादा अनुवाद ही संभव रह गया। चूँकि औपनिवेशिक हुकूमतों ने शासकीय युक्तियों द्वारा इन भाषाओं को बोलने–बरतने वालों के लिए पारम्परिक ज्ञान के दरवाजे बंद कर दिये थे, इसलिए देशज बुद्धिजीवी किसी भी किस्म की वैचारिक मौलिकता से वंचित होने के लिए अभिशप्त हो गए। पश्चिम उनके लिए ज्ञान का एकमात्र स्रोत हो गया। विकल्पहीनता की स्थिति यहाँ तक बनी कि पश्चिमी ज्ञान ही उनके लिए 'ज्ञान' का अंतिम पर्याय बन गया। युरोपीय भाषाएँ ज्ञान और सिद्धांत की उत्पादक बन गईं, और स्थानीय भाषाओं को युरोपीय तर्ज़ के साहित्य, पत्रकारिता और मनोरंजन का वाहक बनने के लिए छोड़ दिया गया। इस तरह भाषा और ज्ञान के उपनिवेशन की प्रक्रियाएँ समांतर और परस्परव्यापी तरीके से साथ–साथ चलीं।

भाषाई उपनिवेशन के कई अपेक्षित और अनपेक्षित परिणाम हुए। पंद्रहवीं सदी से ही उपनिवेशकों ने बोली हुई भाषा पर लिखित भाषा की और चित्रप्रणाली वाली लेखन–पद्धति पर वर्ण (अल्फ़ाबेट) आधारित लेखन–पद्धति की श्रेष्ठता स्थापित की (शुरुआत में तो वे मानने के लिए ही तैयार नहीं थे कि अमेरइंडियनों के पास कोई लेखन–पद्धति भी है, लेकिन जब उन्हें अकाट्य प्रमाण मिले कि उपनिवेशितों के पास लेखन का एक समृद्ध अतीत है तो उन्होंने उनकी लेखन–पद्धति का उन्मूलन करने की कोशिश की और तर्क दिया कि यह प्रणाली बाइबिल के संदेशों को विकृत कर देगी)। उपनिवेशों में युरोपीय भाषाओं और स्थानीय भाषाओं के बीच सम्पर्क के कारण क्रियोल, पिडगिन और पातुआ का विकास और चलन हुआ। उपनिवेशकों ने बहुभाषी समाजों में अपेक्षाकृत अधिक आबादी द्वारा बरती जाने वाली भाषाओं को चुन कर उन्हें प्रभु भाषा बनाया, उनके व्याकरण और शब्दकोशों की लातिन के तर्ज पर रचना की, और उन्हें 'कोलोनियल आर्टिफ़ेक्ट' में बदल दिया। इस तरह ये भाषाएँ 'आधुनिक' बना दी गईं। उनके इस 'आधुनिकीकरण' के बाद उन्हें बरतने वालों के लिए यह जानना

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

भी नामुमकिन हो गया कि 'आधुनिक' बनने से पहले वे देश और समाज की किस प्रकार से सेवा करती थीं। उपनिवेशीकरण की इस प्रक्रिया में न जाने कितनी भाषाओं का अंत हो गया, क्योंकि, नयी पीढ़ियाँ या तो औपनिवेशिक भाषाओं की तरफ आकर्षित होने लगीं, या फिर इन 'आधुनिक' बनी भाषाओं की तरफ़।

औपनिवेशिक युरोपीय भाषाओं का प्रसार दो चरणों में हुआ। औपनिवेशिक हुक्मरानों की भाषाएँ पहले नीचे से ऊपर और फिर दायें से बायें फैलीं। पहले उपनिवेशित समाज के ऊँचे वर्गों, ऊँची जातियों और युरोपीय प्रभुओं के साथ सहयोग करने वालों (इन्हें सांस्कृतिक बिचौलिया या 'कल्चरल इंटरमीडियरीज़' भी कहा जा सकता है) ने इन भाषाओं को आग्रहपूर्वक अपनाया। इसके बाद निचले वर्गों, निचली जातियों, कमतर समुदायों में इनका प्रसार हुआ। भौगोलिक रूप से कहें, तो पहले राजधानियों पर युरोपीय भाषाओं का प्रभुत्व कायम हुआ। फिर वहाँ से छोटे शहरों और गाँवों में इनका रुतबा पहुँचा। उपनिवेशकों ने शिक्षा–प्रणाली और प्रगति के अवसरों को इस प्रकार डिज़ाइन किया कि उसके परिणामस्वरूप एक भाषाई पदानुक्रम बना। इस पदानुक्रम के तहत युरोपीय भाषाओं को सामाजिक–आर्थिक–बौद्धिक प्रतिष्ठा का वाहक बनाया गया, और स्थानीय भाषाओं को इनके मातहत का दर्जा मिला। हर उपनिवेश में प्रशासनिक और वाणिज्यिक संरचना में भागीदारी करने के लिए युरोपीय भाषाएँ सीखना–पढ़ना अनिवार्य हो गया। इस स्थिति के फलस्वरूप उनमें सांस्कृतिक बिचौलियों के शक्तिशाली और प्रभावशाली वर्ग की रचना हुई। ये सांस्कृतिक बिचौलिये पहले दौर में द्विभाषी और त्रिभाषी रहे, लेकिन भाषाई उपनिवेशन की प्रक्रिया ने उनकी आने वाली पीढ़ियों के लिए देशज भाषाएँ 'अन–लर्न' करने और युरोपीय आकाओं की भाषा को अपनी एकमात्र भाषा बनाने की परिस्थिति तैयार की। मोटे तौर पर इन्हीं बिचौलियों में से उपनिवेशवादियों के राष्ट्रवादी उत्तराधिकारी निकले। ये उत्तराधिकारी युरोपीय ज्ञानमीमांसा में निष्णात थे, क्योंकि उपनिवेशीकरण के वाहन पर सवार हो कर विश्व–भाषा बनी स्पेनी, पुर्तगाली, इतालवी, अंग्रेज़ी, जर्मन और फ्रेंच द्वारा उन्हें ज्ञानमीमांसा की प्रमुख अभिव्यक्तियाँ (फ़िलॉसफ़ी, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, रैडिकलिज़म, पत्रकारिता, शिक्षाशास्त्र, रोमन लॉ, इतिहास आदि) आत्मसात करा दी गई थीं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सैकड़ों सालों तक चले भाषाई उपनिवेशन के अनुभव से पता चलता है कि इसे कारगर रूप देने के गई मॉडल रहे हैं। इनमें एक है– मेट्रोपोलिटन मॉडल, और दूसरा वर्नाक्युलर मॉडल। मेट्रोपोलिटन मॉडल के तहत युरोपीय भाषाएँ बिना किसी मुरव्वत के शुरू से ही थोपी जाती हैं, और सांस्कृतिक बिचौलियों को इन्हीं भाषाओं में लाज़िमी तौर पर पारंगत होना पड़ता है। स्थानीय भाषाओं, उनके सभी रूप और संबंधित गतिविधियों को औपनिवेशिक राजसत्ता प्रतिबंधित कर देती है। फ़्रांसीसी उपनिवेशवाद निरपवाद रूप से इसी प्रारूप पर चला। दूसरी तरफ, अंग्रेज़ों द्वारा किया गया भाषाई उपनिवेशन वर्नाक्युलर मॉडल पर चलता रहा है। इसके तहत पहले देशभाषाओं को उपनिवेशवाद के हितों में इस्तेमाल किया जाता है, जिसके परिणामस्वरूप सांस्कृतिक बिचौलियों की शुरुआती पीढ़ियाँ एक ऐसी बहुभाषिता की वाहक होती हैं, जो युरोपीय भाषाओं से दबी रहती है। बाद की पीढ़ियाँ अपनी भाषा छोड़ कर उपनिवेशक भाषा पर ही निर्भर होती चली जाती हैं। कुछ उपनिवेशकों को कहीं मेट्रोपोलिटन, तो कहीं वर्नाक्युलर मॉडल इस्तेमाल करते हुए देखा गया है। मसलन, पुर्तगाल ब्राज़ील में वर्नाक्युलर मॉडल पर चला। लेकिन गोवा में उसने मेट्रोपोलिटन मॉडल अपनाया। भाषाई उपनिवेशन के इन दोनों मुख्य प्रारूपों के बीच से एक तीसरा प्रारूप भी सामने आया है। इसके वाहक बेल्जियन और डच उपनिवेशक हैं। इस मॉडल के मुताबिक शुरुआती दौर में चुनी गईं 'व्यापकतर संचार की भाषाओं' के जरिये ही आख़िर तक उपनिवेशीकरण के हितों की पूर्ति की जाती है। इन भाषाओं के उदाहरण के रूप में अफ़्रीका के संदर्भ में स्वाहिली और एशिया के संदर्भ में बहासा इंडोनेशिया और बहासा मलय को देखा जा सकता है। स्थानीय तत्त्वों और उपनिवेशकों की भाषा के तत्त्वों को मिलाकर इन भाषाओं की रचना हुई है। उधर–औपनिवेशिक स्थितियों (जिन्हें बिना किसी दिक्कत के नव–उपनिवेशवाद की श्रेणी में रखा जा सकता है) में यही भाषाएँ राष्ट्र या राज–भाषा बनी हुई हैं।

राष्ट्रवादी उत्तराधिकारियों को उनके देशों की सम्प्रभुता सौंप देने के बाद युरोपीय उपनिवेशकों ने अपनी भाषाओं, अपनी ज्ञानमीमांसा और अपने विमर्शों की निरंतरता सुनिश्चित करने के लिए ग्लोबल बाज़ार में उन्हें जिंसों की तरह बेचने की योजना पर अमल किया। इन भाषाओं के रुतबे को

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कायम रखने के लिए अकूत धनराशि झोंकी गई, और उन्हें 'सॉफ़्ट पॉवर' की तरह देखा गया। इसके लिए ज़रूरी था कि युरोपीय भाषाओं की बदनाम हो चुकी औपनिवेशिकता को धो–पोंछकर गायब कर दिया जाए, और उन्हें विश्व मंच पर आधुनिकता, तर्कपरकता, विज्ञान और प्रगति के अवसरों की भाषा की तरह पेश किया जाए। अपनी पुरानी 'कोलोनियल' केंचुल छोड़ कर नया 'सार्वदेशिक' आवरण ग्रहण करने की कोशिश तो सभी युरोपीय भाषाओं ने की, लेकिन इसमें स्पेनी, पुर्तगाली, फ़्रेंच और जर्मन के मुकाबले ऐतिहासिक विकास–क्रम (खासकर द्वितीय विश्व–युद्ध के बाद की परिस्थितियाँ) के कारण अंग्रेज़ी कहीं ज्यादा लाभ की स्थिति में रही। पूर्व–उपनिवेशक भाषाओं की इस प्रतियोगिता के गर्भ से 'लिंगुइस्टिक इम्पीरियलिज़्म' (भाषाई साम्राज्यवाद) का विचार निकला, जिसके केंद्र में अंग्रेजी के निरंतर वर्धमान विश्वव्यापी प्रभुत्व की रैडिकल आलोचना थी। इससे कई तरह के सहवर्ती विचार विकसित हुए। जैसे, अपनी कई सीमाओं के बावजूद 'लिंगुइस्टिक इम्पीरियलिज़्म' के इर्दगिर्द चली बहस के गर्भ से 'एंग्लोफ़ोन इकॉनॉमिस्टिक युनिवर्सलिजम', 'किलर लेंग्वेज', 'लिंगुइस्टिक जीनोसाइड', 'लेंग्वेज डिस्प्लेसमेंट', 'लिंग्विस्टिक इकॉलॅजी' की अवधारणाओं का सूत्रीकरण हुआ। भाषाई साम्राज्यवाद का विचार गहन रूप से 'मेटाफ़िज़िकल इम्पायर' (अलौकिक साम्राज्य) के विचार से संबंधित है। अलौकिक साम्राज्य का विचार अठारहवीं सदी के इंग्लैंड में अंग्रेजी भाषा के मानकीकरण की प्रक्रिया में संसाधित हुआ था। इसका मतलब था कि फ़ौजी ताकत के दम पर स्थापित किये गये औपनिवेशिक साम्राज्य के ख़त्म हो जाने के बाद भी भाषा और साहित्य के कभी न खत्म होने वाले साम्राज्य की स्थापना और निरंतरता।

कहना न होगा कि इस विमर्श का मकसद उपनिवेशवाद के अध्ययन को भाषा संबंधी घटाववाद में सीमित करना नहीं है। इसका उद्देश्य तो उसका विस्तार करना है, ताकि आर्थिक दोहन, राज्य–प्रणाली और सांस्कृतिक श्रेणियों की दृष्टि से इस परिघटना के विभिन्न अध्ययनों के निष्कर्षों को भाषाई आईने में देखकर उपनिवेशवाद का सुसंगत और नैरंतर्ययुक्त आख्यान सामने लाया जा सके। पिछले पाँच सौ सालों में उपनिवेशवाद के विभिन्न चरणों, उसकी देश–काल संबंधी विविधताओं, उपनिवेशीकरण की विभिन्न शैलियों और स्थानीय आबादियों की उसके

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रति अलग–अलग तरह की अनुक्रियाओं को समझने और अभिव्यक्त करने के नाम पर इस आख्यान को सामने आने से रोका गया है। पश्चिमी विद्या के एक बड़े हिस्से और उनके एशियायी–अफ़्रीकी बौद्धिक बिचौलियों ने दिखावे के लिए एक क्षमाप्रार्थी भाव अपनाते हुए उपनिवेशवाद को इतिहास की पतली गली से निकाल देने का चतुराईपूर्ण उद्यम चला रखा है। कभी तो वे युरोकेंद्रीयता को औपनिवेशिकता के कलंक से धो–पोंछ कर साफ करने का प्रतिरक्षात्मक प्रयास करते हैं, तो कभी खुल कर उपनिवेशवाद के कथित सकारात्मक बिंदुओं को उभारने में लग जाते हैं, और कभी यह कहने लगते हैं कि उपनिवेशवाद के सांस्कृतिक हस्तक्षेप द्वारा थमाया गया आत्मघृणा पर आधारित आत्म ही हमारा अनुलंघनीय प्रारब्ध है। उपनिवेशवाद की भाषाई विचारधारा का अध्ययन एक बड़ी सीमा तक इस क्षेत्र में विमर्श की ऐसी समस्याओं का निराकरण कर सकता है।

II

उपनिवेशवाद की आलोचना में भाषा की उपेक्षा

दरअसल, युरोपीय उपनिवेशवाद की कोई भी आलोचना उसकी भाषाई विचारधारा को केंद्र में रखे बिना नहीं की जानी चाहिए। आहशस नंदी के मुताबिक़ अगर उपनिवेशवाद एक 'मनोभाव है, अगर वह संस्कृति का प्रश्न है, अगर वह उपनिवेशितों के मानस पर अपनी 'नैतिक' संरचनाएँ आरोपित करता है, तो यह सब भाषा के औज़ार का इस्तेमाल किये बिना नहीं किया जा सकता। वस्तुतः भाषाई उपनिवेशन ही वह सिलसिला है जो युरोपीय उपनिवेशवाद को एक समग्र और समेकित विचारधारा प्रदान करता है। स्थान, समय और उपनिवेशकों के राष्ट्रीय उद्‌गम (मसलन, रोमन, स्पेनिश, पुर्तगाली, ब्रिटिश, फ्रांसीसी, डच, बेल्जियन, इतालवी आदि) के लिहाज से औपनिवेशिकता के प्रारूपों में भिन्नता हो सकती है, लेकिन इन सभी प्रारूपों के इतिहास में पंद्रहवीं सदी से आज की उत्तर–औपनिवेशिक स्थितियों तक बिना किसी अंतराल और बिना किसी क्षय के एक ही भाषाई विचारधारा लगातार प्रभावी दिखाई देती है (भिन्नता केवल इस विचारधारा को लागू करने के मॉडलों के बीच है)। इसलिए, जैसे ही इस विचारधारा की आंशिक या सम्पूर्ण उपेक्षा होती है, वैसे ही उपनिवेशवाद की रैडिकल से रैडिकल आलोचना अधूरी रह जाने के लिए अभिशप्त हो जाती है। इस लिहाज़ से

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कोलोनियल स्टडीज़ (औपनिवेशिक अध्ययन) के उभार के साथ–साथ भारत में रचे गए उपनिवेशवाद विरोधी विमर्श के कुछ विख्यात उदाहरणों पर गौर किया जा सकता है।

मोटे तौर पर कहें तो कोलोनियल स्टडीज़ का पहला उन्मेष 1951 में फ्रांसीसी नृजाति–विज्ञानी जॉर्ज बैलैंडियर के लेख 'ल सिचुएशन कोलोनियाले' से हुआ। इससे पहले उपनिवेशवाद की लानत–मलामत तो खूब होती थी, लेकिन उसकी नज़दीकी जाँच–पड़ताल का एजेंडा लगातार स्थगित किया जाता रहता था। यह द्वैध वामपंथियों और गैर–वामपंथियों में समान रूप से विद्यमान था। ऐसे माहौल में बैलैंडियर की रचना समाजशास्त्र के क्षेत्र में 'गेम–चेंजर' साबित हुई। उनकी दलील थी कि टुकड़ों में न देख कर उपनिवेशवाद को ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, राजकीय, आर्थिक, मज़हबी, फौजी और नस्लवादी सम्पूर्णता में देखा जाना चाहिए। इस तरह उन्होंने विश्लेषण की प्राथमिक इकाई को ही बदलने का प्रस्ताव रख दिया। वरना होता यह था कि कोई उपनिवेशवाद को आर्थिक शोषण की दृष्टि से देखता था, कोई उसे राजनीतिक अधीनस्थता थोपने वाली परिघटना के तौर पर परखने की कोशिश करता था, तो कोई उसे केवल मनोवैज्ञानिक चश्मे से देखता था। बैलैंडियर द्वारा दी गई कोलोनियल सिचुएशन की परिभाषा के अनुसार प्रौद्योगिकीय दृष्टि से उन्नत और ईसाई धर्म मानने वाला अल्पसंख्यक जातीय समुदाय जब प्रौद्योगिकीय दृष्टि से पिछड़े हुए और गैर–ईसाई बहुसंख्यक जातीय समुदाय पर स्वयं को थोपता है तो 'औपनिवेशिक परिस्थिति' की रचना होती है। बैलैंडियर खास तौर से चाहते थे कि एक सम्पूर्ण सामाजिक परिघटना के तौर पर उपनिवेशवाद की यह परख उस विशिष्ट अवधि के दौरान की जानी चाहिए जब न केवल औपनिवेशिक संबंध सर्वाधिक जीवंत और गतिशील रूप में हों, बल्कि प्रभुता और अधीनता के बीच सबसे ज्यादा और सबसे तल्ख़ फासला हो। उनकी मान्यता थी कि उपनिवेशवाद एक ऐसा सत्ता–संबंध है, जिसमें एक विशिष्ट इतिहास की उपज होने के नाते कुछ ऐसे सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक अर्थ निहित हैं, जिनकी संरचनाएँ गहन होने के साथ–साथ जटिल भी हैं।[5]

यह असाधारण लेख लिखने के बाद बैलैंडियर तो उत्तर–औपनिवेशिक समाजों के आधुनिकीकरण, शहरीकरण और विकास के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

जरिये समाज–परिवर्तन के स्वप्न की आलोचनाओं में जुट गए, लेकिन उनके लेख ने कोलोनियल स्टडीज़ के अनुशासन को न केवल प्रेरित किया, बल्कि एक बहस भी शुरू कर दी। बैलैंडियर ने लेख की शुरुआत में ही साल भर पहले छपी ओ. मानोनी की रचना साइकोलॉजी ऑफ कोलोनाइज़ेशन (1950) को इसलिए आड़े हाथों लिया था कि उनका फ़ोकस संपूर्ण परिघटना पर न हो कर केवल उसके मनोवैज्ञानिक पक्षों पर था। इसी सिलसिले में एमी सिज़ेयर की रचना डिस्कोर्स ऑन कोलोनियलिज़्म (1955) सामने आई, जिसने सूत्रीकरण किया कि उपनिवेशवाद उपनिवेशितों को 'सभ्यताच्युत' और 'नृशंस' बनाने की प्रक्रिया में स्वयं का नृशंसीकरण भी कर देता है। यह कहा जा सकता है कि चिंतन के इस दौर ने उपनिवेशवाद को मनोवैज्ञानिक आईने में देखने की आलोचना भी की, और इस तरह के विमर्श को प्रोत्साहित भी किया। इसका सबूत अल्बर्ट मेमी की रचना द कोलोनाइज़र ऐंड द कोलोनाइज्ड (1957) के रूप में सामने आया। दोनों पक्षों पर होने वाले मनोवैज्ञानिक प्रभावों को सामने लाने वाली इस रचना में उपनिवेशीकरण को एक 'युरोपीय बीमारी' के रूप में देखा गया।[6]

बैलैंडियर से लेकर मेमी तक की ये रचनाएँ बेहतरीन थीं। इनमें उपनिवेशवाद विरोधी विमर्श के भविष्य को गहराई से प्रभावित करने की क्षमता थी। लेकिन, इनमें एक पहलू गायब था : उपनिवेशवाद और भाषा के बीच अनिवार्य संबंध का। यही था वह मुकाम जब इस कमी को पूरा करने वाला एक असाधारण और प्रभावशाली विमर्श उभरा, जिसके जनक फ़्रांज़ फ़ानो थे। उनकी दो रचनाएँ द रैचेड ऑफ अर्थ (1960) और ब्लैक स्किन, व्हाइट मास्क्स (1967) ने उपनिवेशवाद और उसके प्रभावों से संघर्ष करने के लिए बीच के किसी भी रास्ते को खारिज करते हुए उसके सम्पूर्ण उत्क्रमण की आवश्यकता पर बल दिया। उपनिवेशवाद को पूरी तरह से पलट देने के इस तर्क ने उत्तर–औपनिवेशिक समाजों के आधुनिकीकरण में लगी पश्चिमी सरकारों, आधुनिकीकरण की ज़रूरत रेखांकित करने में लगे समाज–वैज्ञानिकों और उसे धरती पर उतारने का प्रोजेक्ट चला रहे राष्ट्रवादियों को भी उपनिवेशवाद के ही एक पहलू की तरह कठघरे में खड़ा कर दिया। फ़ानो जिन विमर्शी युक्तियों के जरिये अपने असाधारण निष्कर्ष पर पहुँचे थे, वे उपनिवेशीकरण में भाषा की भूमिका को केंद्रस्थ करने से जुड़ी थीं–

किसी भाषा को बोलने (या बरतने) का मतलब है एक ख़ास तरह की वाक्य–रचना को इस्तेमाल करने की स्थिति में होना, इस या उस भाषा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

के रूपविधान पर पकड़ होना, और इस सबसे ऊपर एक संस्कृति को धारण करना, एक सभ्यता के वज़न को कंधों पर उठाना।.... उपनिवेशित जनता की सांस्कृतिक मौलिकता को मारकर दफ़नाने के जरिये उसकी रूह में एक कमतरी का एहसास रोप दिया गया है। यह जनता उसे सभ्य बनाने का दावा करने वाले राष्ट्र की भाषा से, अर्थात् उपनिवेशक के मातृदेश की संस्कृति से रूबरू होती है। इस तरह उपनिवेशित अपनी जंगली (असभ्य) स्थिति से उसी अनुपात में ऊपर उठ पाता है, जिस अनुपात में वह उपनिवेशक के मातृदेश के सांस्कृतिक मानकों को ग्रहण कर सकता है।[7].... उपनिवेशवाद किसी समाज के लोगों को केवल अपने शिकंजे में जकड़ कर उनके दिमागों को हर तरह के रूप और सारवस्तु से खाली करके ही संतुष्ट नहीं होता। एक विकृत प्रक्रिया के जरिये वह उत्पीड़ित लोगों के अतीत को निशाना बनाता है, और उसका भ्रष्टीकरण और विरूपीकरण करके उसे नष्ट कर देता है।[8]

यह उद्धरण बताता है कि फ़ानो का विमर्श उपनिवेशवाद विरोधी बौद्धिकता को भाषाई मोड़ देने की संभावनाओं से धड़क रहा था। खासकर उन विद्वानों को तो इस आयाम पर खास निगाह डालनी चाहिए थी जो आधुनिकीकरण और राष्ट्रवादी परियोजनाओं को सच्चे वि–उपनिवेशीकरण की तरह स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। पचास से साठ के दशक के बीच विकसित हुए इस उपनिवेशवाद विरोधी विमर्श ने भारतीय समाज–विज्ञान को अस्सी के दशक में उसके सबसे बड़े शाहकारों में से एक प्रदान किया। यह थी आशिस नंदी की विश्व–विख्यात रचना द इंटीमेट एनिमी (1986)। नंदी आधुनिकता और राष्ट्रवाद की आलोचना करना चाहते थे। वे स्वयं स्वीकार करते हैं कि अफ़्रीकन संदर्भ में रची गई सिजेयर, मेमी और फ़ानो की कृतियाँ उनकी प्रेरणा का मुख्य स्रोत रही हैं।

निस्संदेह, भारत में उपनिवेशवाद के मनोवैज्ञानिक फलितार्थों पर रोशनी डालने के मामले में नंदी ने अनूठी कुशाग्रता दिखाई है। लेकिन, विडम्बना यह है कि फ़ानो से प्रभावित होने के बावजूद आशिस नंदी ने उपनिवेशवाद की भाषाई विचारधारा की संरचनाओं से अपरिचित रहना ही पसंद किया। इससे उपजे अधूरेपन का मुखर सबूत नंदी के विमर्श में देखा जा सकता है। भाषाई विचारधारा ही नहीं, भाषा के प्रश्न की ही सम्पूर्ण उपेक्षा के कारण वे औपनिवेशिक विचारधारा के आद्योपांत नैरंतर्य को रेखांकित नहीं कर पाये। यहाँ स्पष्ट करना जरूरी है कि भाषाई विचारधारा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

में दिलचस्पी न होने का मतलब यह नहीं है कि नंदी का विमर्श पर्याप्त रूप से रैडिकल नहीं है। एक तरह से नंदी पहले चिंतक हैं जिन्होंने अस्सी के दशक से पहले भारत में उपनिवेशवाद की प्रचलित आलोचनाओं को कठघरे में खड़ा किया। नंदी ने कहा कि 'असहमति के आधिकारिक मॉडल' पर आधारित उपनिवेशवाद की आलोचनाएँ 'विजेताओं के लिए श्रद्धांजलि जैसी लगती हैं।' उन्होंने व्याख्या की कि आज आधुनिक विश्व द्वारा सुनिश्चित और प्रोत्साहित शैली में उपनिवेशवाद–विरोधी होना सम्भव है। ऐसे उपनिवेशवाद–विरोध को 'समुचित', स्वस्थचित्त और 'तर्कपरक' करार दिया जाता है। विरोध में खड़ी होने के बावजूद यह असहमति नियंत्रित और पूर्वानुमानित होती है। नंदी ने निष्कर्ष निकाला कि पश्चिम ने न केवल आधुनिक उपनिवेशवाद पैदा किया है, वह उपनिवेशवाद की सभी व्याख्याओं में भी व्याप्त है। यहाँ तक कि व्याख्याओं की व्याख्याओं पर भी उसकी छाप है।[9] यहाँ समझना जरूरी है कि नंदी के इस रैडिकलिज़्म में क्या और क्यों छूट गया है।

नंदी की मान्यता है कि 190 साल चले अंग्रेज़ों के शासन की शुरुआत भले ही 1757 में पलासी की लड़ाई में क्लाइव के हाथों सिराजुद्दौला की पराजय से हुई हो, लेकिन उपनिवेशवाद की वास्तविक शुरुआत 1820 के दशक के आख़िरी सालों से समझी जानी चाहिए, जब संस्कृति के औपनिवेशिक सिद्धांत के अनुकूल नीतियाँ लागू करने की शुरुआत की गई। यानी, औपनिवेशिक प्रोजेक्ट का असली प्रकटीकरण इस मुकाम पर अपने सांस्कृतिक संस्करण के साथ होता है। नंदी इससे पहले की अवधि को ब्रिटिश शासन पर भारतीय जीवन–शैली के प्रभाव के रूप में देखते हैं। इसी सिलसिले में नंदी को यह देखना भी मोहक लगता है कि अंग्रेज़ उन दिनों भारतीय स्त्रियों से विवाह करते थे, मंदिरों की पूजा–अर्चना में भाग लेते थे, और भारतीय पोशाकें पहनते थे। वे यह भी दिखाते हैं कि 1830 के दशक तक तो अंग्रेजों के मानस पर साम्राज्यिक कल्पनाशीलता की कोई ख़ास गहरी छाप नहीं थी, और उनकी महारानी स्वयं को अपने द्वीप की महारानी समझ कर ही संतुष्ट थी।[10] उनकी दूसरी मान्यता है कि स्पेन और पुर्तगाल द्वारा अपनायी गई लूटमार और मज़हबी औपनिवेशिक शैली को ब्रिटेन और फ्रांस की 'लोकोपकारी और साभ्यतिक' औपनिवेशिक शैली से अलग करके देखा जाना चाहिए।[11]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यही है नंदी द्वारा प्रवर्तित 'संस्कृति का औपनिवेशिक सिद्धांत'। सम्भवतः इससे नंदी का तात्पर्य वह है जो उनकी फ्रॉयडियन विद्या से निकली हुई संस्कृति की समझ की उपज है। यह फ्रॉयडियन विद्या संस्कृति के लिए भाषा की अहमियत से अनजान है। इसलिए, जैसे ही भाषा के आईने में देखा जाता है, वैसे ही यथार्थ अपनी हकीकत के साथ नंदी की व्याख्या के विपरीत खड़ा हो जाता है। सांस्कृतिक और बौद्धिक अधीनस्थता की परियोजना के रूप में उपनिवेशवाद की शुरुआत और पीछे से, यानी अपने उद्घाटन–क्षण से ही दिखाई देने लगती है। रिज़ेसाँन के दौरान तमाम मानववादी विद्वता स्पेन और पुर्तगाल के औपनिवेशिक साम्राज्यों के लिए मज़हबी–सांस्कृतिक संहिताएँ तैयार करते हुए मिलती है। अठारहवीं सदी के मध्य से ही ब्रिटेन के बौद्धिक अभिजन साम्राज्यिक कल्पनाशीलता के सांस्कृतिक आयामों पर चर्चा में व्यस्त दिखायी पड़ते हैं। उनके बीच यह सवाल पूछा जाने लगता है कि फ़ौजी विजयों पर आधारित साम्राज्य को उसकी भंगुरता के अंदेशों से निकाल कर लम्बी उम्र देने की सांस्कृतिक प्रौद्योगिकी क्या हो सकती है। इसी चिंतन के तहत अंग्रेज़ी का मानकीकरण भविष्य से साम्राज्यिक भाषा के तौर पर करने का कार्यक्रम अपना लिया जाता है।[12] अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध में शुरू हुआ ब्रिटिश नव–प्राच्यवाद भी भारत में अंग्रेज़ी शासन को लम्बी उम्र देने और औपनिवेशिक अधीनता को जायज ठहराने का एक बौद्धिक उपक्रम था। इसके केंद्र में स्पष्ट रूप से भाषा और संस्कृति का खेल था। भारतीय जीवन–शैली के प्रति शुरुआती अंग्रेजी लगाव और इसके कारण इंग्लैंड में हुई ईस्ट इंडिया कम्पनी की आलोचना की आड़ में यह तथ्य नहीं छिप सकता कि नव–प्राच्यवाद का ब्रिटिश संस्करण उस समय क्या कर रहा था। नव–प्राच्यवाद उस समय संस्कृत के प्राचीन ग्रंथ खोज कर उनके आधार पर सुनहरे भारतीय अतीत की मनमानी निर्मिति कर रहा था, ताकि उसे भारत के समकालीन यथार्थ के मुकाबले खड़ा करके अंधकारपूर्ण मध्ययुग और वर्तमान का आख्यान तैयार किया जा सके।[13] थॉमस ट्राउटमान की मान्यता है कि नव–प्राच्यवाद ने भारतवासियों के बीच ब्रिटिश शासन के प्रति लगाव कायम करने और उसकी ज़्यादतियाँ बर्दाश्त करते हुए उसे अंगीकार करवाने के लिए उपयोगी तर्कयोजना तैयार की। इस प्रकार नव–प्राच्यवाद उपनिवेशवाद को उपनिवेशितों के गले उतारने का औज़ार बना।[14]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

नव–प्राच्यवादी उद्यम के केंद्र में उपनिवेशवाद की भाषाई विचारधारा के कुछ पहलू एक ख़ास ढंग से व्यक्त हो रहे थे। मसलन, नव–प्राच्यवादी मानते थे कि उन्हें प्राचीन ग्रंथों को संस्कृत के तत्कालीन पंडितों की 'अविश्वसनीयता' से मुक्त करना है, और यह मक़सद अंग्रेजी में अनुवाद के जरिये उनके 'शुद्धिकरण' के द्वारा ही हो सकता है। उस समय तक ब्रिटिश विद्वानों को यकीन होने लगा था कि मानकीकरण के जरिये उनकी भाषा अंग्रेज़ी का 'शुद्धिकरण' हो चुका है, और मानकीकरण की प्रक्रिया ने उसे यूनानी और लातिन जैसी क्लासिक भाषाओं के गुणों से सम्पन्न कर दिया है। दरअसल, युरोप में सत्रहवीं और अठारहवीं सदी मानकीकरण की प्रौद्योगिकी का इस्तेमाल करके भाषा के 'शुद्धिकरण' के आग्रहों से भरी हुई दिखती है। दूसरे, नव–प्राच्यवादियों ने ही 'भारोपीय भाषा परिवार' की इंजीली अवधारणा के आधार पर संस्कृत बोलने वाले गोरे रंग के हमलावर आर्यों और 'द्रविड़ भाषा परिवार' की भाषाएँ बोलने वाले साँवले रंग के दक्षिण भारतीयों के बीच द्वंद्व का सांस्कृतिक प्रत्यय तैयार किया। भारोपीय भाषा परिवार का पूरा प्रपंच अठारहवीं सदी के आख़िरी वर्षों में ही विलियम जोंस द्वारा एशियाटिक सोसाइटी में दिये गए प्रवचनों में रचा गया। उनकी यह कल्पनाशीलता उपनिवेशवाद की भाषाई विचारधारा की देन थी। तीसरे, औपनिवेशिक बौद्धिकता के चुनिंदा नुमाइंदों के रूप में नव–प्राच्यवादियों ने ही भारतीय चरित्र के ऊपर युरोपीय चरित्र की, भारतीय भाषाओं के ऊपर अंग्रेजी भाषा की और भारतीय पारम्परिक ज्ञान के ऊपर पश्चिमी ज्ञान की श्रेष्ठता का पहला दावा पेश किया। नंदी को यह देखने में दिलचस्पी नहीं है कि 1820 के दशक के आखिरी वर्षों तक तो ब्रिटिश उपनिवेशवाद की सांस्कृतिक राजनीति ख़ासी आगे बढ़ चुकी थी। उपनिवेशवादियों ने अपना ऊहापोह छोड़कर भारत में अंग्रेजी–शिक्षा लागू करने का मन बनाना शुरू कर दिया था। इसी दौरान अंग्रेजों के प्रोत्साहन और सान्निध्य में पनपे भारतीय मध्यवर्ग के प्रतिनिधियों (जिन्हें इस लेख में सांस्कृतिक बिचौलियों की संज्ञा दी गई है) ने भारतीय ज्ञान की 'निकृष्टता' का तर्क प्रस्तुत करते हुए शिक्षा के क्षेत्र में अंग्रेज़ी भाषा के जरिये पश्चिमी ज्ञान की माँग शुरू कर दी थी। शिक्षा–भाषा–ज्ञान का औपनिवेशिक त्रिकोण इसी मुकाम से परवान चढ़ने लगा था। नव–प्राच्यवादी उद्यम की पृष्ठभूमि न होती, तो यह सफल नहीं हो सकता था।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

नंदी ने 1757 से 1820 के आखिर तक की अवधि को 'संस्कृति के औपनिवेशिक सिद्धांत' से पहले का दौर माना है। यह रवैया अपने–अपने ढंग से कुछ और विद्वानों ने भी दिखाया है। मसलन, भीखू पारेख मानते हैं, क्लाइव, हेस्टिंग्ज़ और उस समय की अन्य असरदार हस्तियाँ आम तौर पर नस्ली श्रेष्ठता के भावों और साभ्यतिक मिशन के बोध से मुक्त थीं।' पारेख का दावा है कि अठारहवीं सदी में बीस के दशक से ब्रिटेन में असरदार हुई उपयोगितावाद और उदारतावाद (जेम्स मिल और जॉन स्टुअर्ट मिल के विचार) ने जॉन लॉक और एडम स्मिथ की शिक्षाओं से हटते हुए 'सेकुलरीकृत ईसाइयत' की तर्ज पर बर्बर और सभ्य का विभाजन खड़ा किया।[15] थॉमस ट्राउटमान ने भी भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद को पहले के 'ब्रिटिश इंडोमेनिया' और बाद के 'ब्रिटिश इंडोफोबिया' में बाँट दिया है। वे कहते हैं कि इंडोमेनिया अपने आप नहीं मरा, बल्कि उसे चार्ल्स ग्रांट और जेम्स मिल के उपयोगितावाद ने मारा, और इंडोफ़ोबिया को जन्म दिया।[16] दरअसल, पारेख और ट्राउटमान तो लॉक, स्मिथ, ग्रांट और मिल द्वारा प्रवर्तित शास्त्र के अन्य पहलुओं में निष्णात हैं, पर उनकी निगाह में उनकी भाषाई विचारधारा नहीं है। अगर वे इन युरोपीय विद्वानों के इस आयाम से परिचित होते तो उन्हें पहले और बाद के उदारतावाद के बीच या इंडोमेनिया और इंडोफ़ोबिया के बीच का अंतर करने की ज़हमत ही नहीं उठानी पड़ती। उन्हें साफ़ तौर पर दिख जाता कि सभ्यताओं के पदानुक्रम का विचार परवर्ती उदारतावादियों की देन नहीं था, बल्कि इसका सूत्रीकरण एडम स्मिथ द्वारा स्कॉटिश एनलाइटेनमेंट के दौरान किया गया था। जेम्स मिल और जे.एस. मिल तो इस मामले में स्मिथ के अनुयायी थे। इसी तरह भाषा के आधार पर बर्बर और सभ्य के द्विभाजन का विचार चार्ल्स ग्रांट का नहीं था। बल्कि, यह तो उदारतावाद के श्रद्धेय पितामह जॉन लॉक की कारिस्तानी थी। ट्राउटमान का उदाहरण नंदी से भी आगे जाकर स्पष्ट करता है कि उपनिवेशवाद की आलोचना करते समय भाषा के प्रश्न को केंद्र करना ही पर्याप्त नहीं है। ट्राउटमान ने अपनी दो अत्यंत उपयोगी रचनाओं आर्यंस ऐंड इंडिया और लेंग्वेजेज ऐंड नेशंस में भाषा के प्रश्न को तो संसाधित किया है, लेकिन उपनिवेशवाद की भाषाई विचारधारा को न समझ पाने के कारण वे नहीं देख सके कि जिसे वे इंडोमेनिया का चरण कहते हैं, उसी समय इंग्लैंड में अंग्रेज़ी के भाषाई रणनीतिकार इंडोफ़ोबिया फैलाने

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

वाले मिल (पिता–पुत्र) वास्तव में ग्रांट, मैकॉले और ट्रेविलियन के विचारों के लिए आधारभूत सूत्रीकरणों की रचना कर रहे थे।

नंदी के विमर्श में भाषा के प्रश्न की उपेक्षा उस समय और चुभने लगती है, जब उन्हें प्रभावित करने वाले फ्रांज़ फ़ानो द्वारा की गई उपनिवेशवाद विरोधी आलोचना में हमें भाषा की निर्विवाद केंद्रीयता दिखाई पड़ती है। जाहिर है कि फ़ानो के भाषा संबंधी विमर्श से नंदी ने साफ़ तौर पर कन्नी काट ली है। अपने तीन साथी विद्वानों (ज़ियाउद्दीन सरदार, मेरिल विन डेवीज़ और क्लॉड अल्वारिस) के साथ मिल कर लिखी गई एक और बेहतरीन रचना में नंदी ने औपनिवेशिक शिक्षा को भारत के बौद्धिक संहार का कारण माना है। लेकिन, इस खरी स्वीकारोक्ति के बावजूद वे अंग्रेज़ी की भूमिका को चिह्नित करने में विफल रहते हैं। चार विद्वानों की इस छोटी लेकिन अत्यंत प्रभावी कृति में भारत की औपनिवेशिक और उत्तर–औपनिवेशिक शिक्षा–प्रणाली के परिणामों की तुलना स्पेनियों और पुर्तगालियों द्वारा अमेरइंडियनों के दैहिक संहार से की गई है :

भारतीय शिक्षा–प्रणाली के फलितार्थों की भयावहता अमेरिकी महाद्वीप पर ईसाइयत/गुलामी थोपने से कम नहीं है। कारण स्पष्ट है। अमेरिका में इसका परिणाम लाखों के सामूहिक संहार में निकला। या तो उन्हें जमीन में छह फुट नीचे गाड़ दिया गया, या जला कर धुएँ में उड़ा दिया गया। लेकिन, भारत में शिक्षा–प्रणाली ने उससे भी ज़्यादा बड़ी संख्या में लोगों को उसी तरह के कारागार में बंद कर दिया है– उनके दिमागों को लकवा मार चुका है। एक तरह से वे मृतप्रायः हैं। छह फुट नीचे दफन कर दिये गये अमेरइंडियनों और उनके बीच अंतर केवल यह है कि वे धरती के ऊपर चलने का दिखावा कर सकते हैं।'[17]

यहाँ जिस शिक्षा–प्रणाली का जिक्र नंदी और उनके साथी विद्वान कर रहे हैं, उसका सर्वाधिक विवादित पहलू अंग्रेजी भाषा ही थी। पर नंदी की दोनों कृतियाँ इस विवाद को एक बार भी सम्बोधित नहीं करतीं। युरोपीय उपनिवेशवाद जिस 'अन्यता' की रचना करता है, नंदी के पास उसकी भी बेहतरीन व्याख्या है, पर इस अन्यता को रचना में भाषा की भूमिका और उसके आधारभूत विचारधारात्मक पहलुओं में उनकी दिलचस्पी बिल्कुल नहीं दिखाई देती। उपनिवेशवाद का कोई भी अध्येता इस तथ्य को कैसे भूल सकता है कि जिस स्पेनिश उपनिवेशवाद की हत्यारी प्रवृत्तियों पर नंदी और उनके साथियों ने रोशनी डाली है, उसका एक आधार 'कोंक्विस्टा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पेसिफ़िका' (शांतिपूर्ण विजय) भी था। कैथॅलिक पादरियों के नेतृत्व में हासिल की गई इस विजय का मुख्य उपकरण भाषा थी।

III

'कोंक्विस्टा पेसिफ़िका' और मसीही भाषा–नीति

उपनिवेशवादी भाषा–चिंतन के बुनियादी मसीही पक्ष को कारगर रूप में धरती पर उतारने में वैश्विक ईसाई प्रतिष्ठान की भूमिका को रेखांकित करना आवश्यक है। औपनिवेशिक विश्व में भाषा–विज्ञान पर बेहतरीन शोध करने वाले जोसेफ एरिंगटन हमें बताते हैं कि मिशनरी भले ही तरह–तरह के रहे हों, पर वे सभी किसी न किसी प्रकार औपनिवेशिक सत्ता के सर्वाधिक अंतरंग रूपों के एजेंट थे। औपनिवेशिक अभिकर्ता के रूप में उनकी यह भूमिका अभिप्रेत भी थी, और अनभिप्रेत भी। उनमें से कइयों का मानना था कि उन्हें उपनिवेशवादियों की सत्ता और तिजारती हितों से सीधे–सीधे कुछ लेना–देना नहीं है। लेकिन, उन सभी को यह अहसास अवश्य था कि युरोप की औपनिवेशिक सत्ता और उसके ताक़तवर संस्थानों की मदद के बिना एशिया, अफ्रीका और लातिनी अमेरिका स्थित युरोपीय उपनिवेशों में न तो उनके मिशनों के कदम जम सकते हैं, और न ही ईसाइयत कबूल करने के लिए चलाई जाने वाली शैक्षिक परियोजनाएँ परवान चढ़ सकती हैं। इन परियोजनाओं के जरिये पेगन–विश्व (गैर– ईसाई और गैर–इस्लामी दुनिया) के विभिन्न समाजों में लोगों और भाषाओं का पदानुक्रम (ऊँच–नीच) तैयार करके उपनिवेशवाद के साभ्यतिक– सांस्कृतिक तर्क को पुष्ट किया जाना था।

उपनिवेशवाद के बारे में उनका वैचारिक रवैया जो भी रहा हो, मिशनरियों ने औपनिवेशिक सरकारों और उनके युरोप स्थित मुख्यालयों के साथ समन्वित ढंग से काम करते हुए एशिया, अफ्रीका और लातिनी अमेरिका में गैर–युरोपीय भाषाओं का विस्तृत आकलन किया। इसे तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। पहली श्रेणी में वे भाषाएँ आती हैं जो लेखन–पद्धति और व्याकरण से सम्पन्न नहीं थीं। पादरियों ने मूलवासियों (न्यूज़ीलैंड, ऑस्ट्रेलिया, अमेरिका, अफ्रीका के मूलवासी) की इन भाषाओं को लिखित भाषा के ढाँचे में लाने की योजना बनायी। इसके जरिये वे मूलवासी समुदायों में पश्चिमी तर्ज़ पर शिक्षा का एक ढाँचा खड़ा करके उनके बीच

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

एक धीरे–धीरे लेकिन लगातार बढ़ते हुए साक्षर समाज को जन्म देना चाहते थे। पादरियों ने मूलवासियों की 'नव–विकसित' लिखित भाषा में बाइबिल का अनुवाद करके उनका ईसाईकरण करने, और इस सबके परिणामस्वरूप उन समाजों को औपनिवेशिक दायरे का औपचारिक अंग बनाने के लिए एक विविध और दीर्घकालीन अभियान चलाया। अध्येताओं ने इस परिघटना को 'लिंगुइस्टिक कनवर्ज़न' (भाषिक अंतरण) की संज्ञा दी है। दूसरी श्रेणी में वे भाषाएँ आती हैं जिनके पास पहले से अपनी जमी हुई लेखन–पद्धति, व्याकरणशास्त्र, शब्दकोश और नाना प्रकार के समृद्ध विमर्श थे। ये भाषाएँ अपने विशाल समाजों के लिए देशभाषाओं की भूमिका भी निभाती थीं। भारतीय समाज और भारतीय भाषाओं को इस श्रेणी के उदाहरणों के रूप में देखा जा सकता है। पादरियों ने इन भाषाओं के सर्वेक्षण किये, उनके इतिहास लिखे, और उनके पारंपरिक व्याकरणशास्त्र को युरोपीय निगाह से समझते हुए चतुराई के साथ इनके ढाँचे का लातिनीकरण किया। औपनिवेशिक सत्ता के सक्रिय प्रोत्साहन से चलाये गए इस उद्यम से दीर्घकाल में ये भाषाएँ भीतर–बाहर से काफ़ी हद तक बदल गईं। यह भी एक तरह का 'लिंगुइस्टिक कनवर्ज़न' ही था। फिर औपनिवेशिक सत्ता ने क्रमशः इनका इस्तेमाल पश्चिमी विचार और पश्चिमी शिक्षा को उन समाजों के गले उतारने के लिए किया। तीसरी श्रेणी में उन देशों की भाषाएँ आती हैं, जो औपनिवेशिक सत्ता के दायरे से बाहर रह गई थीं। इस श्रेणी का बड़ा उदाहरण चीन माना जा सकता है। पादरियों के पास इन भाषाओं के जीवन में हस्तक्षेप करने का कोई कोई साधन नहीं था। इसलिए उन्होंने ऐतिहासिक रूप समृद्ध इन दो भाषाओं को 'शैतान की कृति' घोषित कर दिया।

यहाँ भाषा के संदर्भ में कैथॅलिक और प्रोटेस्टेंट मिशनरियों के बीच का अंतर भी समझना आवश्यक है। कैथॅलिक पादरियों की समझ यह थी कि उनका काम लातिन में लिखे हुए बाइबिल के पाठीय सत्य और ईसाइयत में नव–दीक्षितों के बीच मध्यस्थ की भूमिका निभाने का है। इस समझ के पीछे मान्यता यह थी कि एक संवाद ईश्वर और पुरोहित के बीच होता है, और दूसरा पुरोहित और उसकी बात सुनने वाले के बीच। इस प्रक्रिया से बाहर कैथॅलिकों को स्थानीय भाषाओं की आवश्यकता नहीं थी। दरअसल, वे भाषाई विभिन्नता को ईसाइयत के प्रसार में बाधा की तरह देखते थे।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इसलिए उन्होंने छोटी–छोटी स्थानीय भाषाओं को सीखने के झंझट से दूर रहना ही मुनासिब समझा। रणनीति के तौर पर वे अपनी सक्रियता के क्षेत्र में सबसे ज्यादा बोली जाने वाली और व्यापक प्रतिष्ठा वाली किसी भाषा को चुन लेते थे, और उसी पर केंद्रित करते हुए उनकी गतिविधियाँ चलती थीं। कैथॅलिकों द्वारा ईसाई बनाने के लिए स्थानीय भाषाओं को तरजीह न देने के पीछे एक धारणा यह भी थी कि स्थानीय लोगों को मजहब का सार समझा देना काफी है, ताकि वे कैथॅलिक मजहबी सामाजिक क्रियाओं और रिवाजों में भागीदारी कर सकें।

उनके विपरीत प्रोटेस्टेंट पादरियों की समझ यह थी कि किसी भी व्यक्ति को बाइबिल का सत्य केवल उसके पाठ के निजी ज्ञान द्वारा ही हासिल हो सकता है। इसलिए प्रोटेस्टेंटों की कोशिश रहती थी कि वे नये ईसाइयों को उनकी भाषा में ही अपनी पवित्र किताब का सत्य अनूदित करके समझाएँ, ताकि उनके आंतरिक संसार में परिवर्तन हो सके। इसी उसूल के कारण सारी दुनिया में प्रोटेंस्टेंट मिशनरियों ने स्थानीय भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करने में गहरी दिलचस्पी दिखाई। वे पेगन भाषाओं के टूटे–फूटे ज्ञान से ही संतुष्ट नहीं हुए, बल्कि उन्होंने उन भाषाओं को बरतने वाले समुदायों के साथ काम करते हुए उनकी भाषाएँ सीखीं, उनके बीच साक्षरता के अभियान चलाए ताकि वे बाइबिल पढ़ सकें, और साथ ही एक तरह का मूल्य–निर्णय भी किया कि नये ईसाइयों के सामाजिक जीवन के कौन से पक्ष उन्हें सुरक्षित रखने हैं, और कौन से विलुप्त करने का प्रयास करना है।[18]

मिशनरी काम और भाषा के बीच इस संबंध का नतीजा यह निकला कि सोलहवीं सदी के मध्य तक पेगन भाषाओं के व्याकरण और शब्दकोश लिखना पादरियों का प्रमुख उद्यम बन गया। वाल्टर मिन्योलो ने इस हक़ीक़त को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि पश्चिम की ईसाई दुनिया के 1492 के बाद हुए विस्तार और विश्व के कई भागों में चली उपनिवेशीकरण की परवर्ती प्रक्रिया का सर्वाधिक स्पष्ट फलितार्थ देशज भाषाओं के व्याकरण लिखने में निकला। मिन्योलो के अनुसार इसका मकसद उपनिवेशितों को ईसाई बनाना ही था।[19] दरअसल, उपनिवेशवाद से अंतरंग संबध रखने वाले पादरियों की मान्यता थी कि अगर किसी भाषा के पास व्याकरण होगा तो उसे सभ्य की श्रेणी में डाला जा सकता है। इसके अलावा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इस प्रक्रिया में गैर–युरोपीय भाषाओं के बहुत से व्याकरण और प्रार्थना–पुस्तकें तैयार हो गईं जिनका ईसाई मठों में बाकायदा अध्ययन होने लगा। खास बात यह थी कि पादरियों द्वारा लिखित पेगन भाषाओं के ये सभी व्याकरण कमोबेश लातिन के व्याकरण की तर्ज़ पर होते थे, क्योंकि ईसाइयत की मुख्य क्लासिक भाषा लातिन ही थी।[20]

ईसाई वैयाकरणों के बीच इस बात को लेकर कुछ दुविधा भी थी। उन्हें लगता था कि वे लातिन के मॉडल में पेगन भाषाओं को जबरन घुसेड़ने से उनमें बहुत–कुछ विकृति पैदा हो रही है। प्रशांत महासागरीय क्षेत्र में ईसाई मिशनों की भाषाई रणनीतियों का अध्ययन करने वाले पीटर मुलहौज़र के अनुसार मिशनरी भाषाशास्त्री यह तथ्य बहुत जल्दी ही समझ गए थे कि 'संभवतः मिशन का काम करने के लिए किसी भी देशज भाषा में कुछ न कुछ विकृति पैदा होना लाज़िमी है।'[21] दूसरे, लातिन का मॉडल छोड़ने के बारे में सोचने पर उन्हें यह अंदेशा भी सताता था कि ऐसा करके उन्हें पेगन संसार के ऐसे सांस्कृतिक क्षेत्र में रमना पड़ जाएगा, जिससे वे पूरी तरह तो क्या थोड़ा भी वाक़िफ़ नहीं हैं। शायद इसी डर के कारण पादरियों ने अपने व्याकरणों में लातिन का मॉडल कभी नहीं छोड़ा, और इस प्रक्रिया में उन्होंने पेगन समुदायों को उनकी भाषाओं का जो संस्करण थमाया, वह उपनिवेश बनने से पहले की भाषा से काफी भिन्न था। कई अर्थों में यह नयी भाषा नाम के लिए ही पहले वाली रह गई थी। वास्तव में वह एक तरह का 'कोलोनियल आर्टिफ़ेक्ट' बन चुकी थी। सौ–डेढ़–सौ साल तक पेगन भाषाओं के इन्हीं संस्करणों का व्यवहार होने के कारण पेगन समाजों के लिए धीरे–धीरे यह जानने के दरवाजे भी बंद हो गए कि उपनिवेशवाद के हत्थे चढ़ने से पहले उनकी भाषाएँ किस रूप में समाज और ज्ञानोत्पादन की सेवा करती थीं।[22]

यह मानना एक मुगालता होगा कि मसीही भाषा–नीति, मज़हबी दृष्टि से ही सही, पेगन भाषाओं की सेवा करने में कोई दिलचस्पी रखती थी। पीटर मुलहौज़र के अनुसार ऐतिहासिक रूप से युरोपीय मिशनों की मुख्य योजना हर समय अपने देशों की प्रभु भाषाओं (जर्मन, फ्रेंच, इतालवी, अंग्रेज़ी, स्पेनी, पुर्तगीज़) के पक्ष में एकभाषी रुझानों को पुष्ट करने की थी। आम तौर पर यह लक्ष्य दो चरणों में वेधा जाता था। पहले स्थानीय भाषा और अपनी प्रभु भाषा के बीच द्विभाषिता प्रोत्साहित की जाती थी, और फिर उसके बाद युरोपीय भाषा की श्रेष्ठता के आधार पर एकभाषिता कायम करने

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

की प्रक्रिया चलाई जाती थी। मुलहौज़र ने इसके पाँच कारण बताये हैं : पहला, शुरुआती दौर में युरोपीय मिशनों के बीच यह समझ बहुत प्रचलित थी कि केवल उनकी अपनी प्रभु भाषाएँ ही बाइबिल का संदेश व्यक्त करने में पूरी तरह से सक्षम हैं। दूसरा, युरोपीय राष्ट्रों के प्रतिनिधि होने के नाते मिशनों को अपनी राष्ट्रीय भाषाओं और उपनिवेशों में चलाये जा रहे साभ्यतिक–सांस्कृतिक अभियान व ईसाईकरण की प्रक्रियाओं के बीच गहरा सूत्र दिखाई पड़ता था। प्रोटेस्टेंट मिशन अंग्रेजी और कैथॅलिक मिशन फ्रेंच के प्रचार–प्रसार में व्यस्त रहते थे। तीसरा, उपनिवेशक सरकारों में अपने मातृदेश की भाषा में दी जाने वाली शिक्षा पर अधिकाधिक धन खर्च करने की प्रवृत्ति रहती थी। चौथा, युरोपीय भाषाओं में बाइबिल, शिक्षा सामग्री और स्कूली किताबें आसानी से उपलब्ध रहती थीं, और स्थानीय भाषाओं में उन्हें तैयार कराने और उपलब्ध कराने के लिए विशेष रूप से रकम खर्च करनी पड़ती थी। पाँच, ऐसे पादरियों की संख्या अपेक्षाकृत कम थी, जो स्थानीय भाषाएँ बोलने और बरतने का झंझट उठाने के लिए तैयार हों।

कुल मिलाकर मसीही भाषा–नीति युरोईसाई परिप्रेक्ष्य की चौहद्दी से बाहर निकलने के लिए कभी तैयार नहीं हुई। यह केवल कहने की ही बात थी कि इंजीली संदेश को संस्कृतियों के आर–पार प्रभावी होना चाहिए। युरोपीय मिशनरी अपने घोषित आदर्शों के बावजूद ईसाइयत के बुनियादी उसूलों को अपने मातृदेशों के सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य से अलग करके कभी नहीं ग्रहण कर पाए। सत्रहवीं सदी से उन्नीसवीं सदी के बीच फैले हुए कुछ उद्धरणों से समझा जा सकता है कि ईसाई पादरियों के बीच पेगन भाषाओं के प्रति लगातार किस कदर घृणा का भाव रहा। सत्रहवीं सदी में न्यू फ्रांस (आजकल कनाडा में) के एक जिसूट मिशनरी का कहना था : 'जो उनके (मूल वासियों के) साम्राज्य में है, वही सब कुछ यहाँ है– अंधविश्वास, भ्रांति, बर्बरता और इसके परिणामस्वरूप पापिष्ठा। सबसे पहले हम दुश्मन पर उसी के इलाके में उसी के हथियारों से हमला करेंगे, अर्थात् उन्हीं की मोंटानीज, एल्गोनक्विन और हुरोन भाषाएँ सीखकर।' 1859 में माइक्रोनेशिया (पश्चिमी प्रशांत सागर के छह सौ द्वीपों का समूह) में कार्यरत एक मिशनरी ने लिखा : 'माइक्रोनेशिया और अन्य विधर्मी राष्ट्रों की भाषाएँ विधाता द्वारा व्यक्त निर्मूल विचारों और सामान्य नैतिक विचारों को व्यक्त करने में सक्षम शब्दों के मामले में दरिद्र हैं। लेकिन, यही भाषाएँ घिनौने

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

विषयों को व्यक्त करने वाले शब्दों और पदों से भरी पड़ी हैं।' ऑस्ट्रेलिया के मूलवासियों की भाषाओं के बारे में मिशनरियों की मान्यता थी : 'मज़हबी उपयोगिता के लिहाज से ऑस्ट्रेलियायी बोलियों से परिचित होने का कोई लाभ नहीं है, क्योंकि उन लोगों के पास न कोई मज़हब है, न कोई पूजा–पद्धति है, न त्याग है, न प्रार्थना है, और किसी भी स्थिति के प्रति न कोई आशा है और न कोई भय।'

इस तरह के कट्टर युरोईसाई रवैये का नतीजा यह निकला कि ईसाइयत कबूल करने वाला प्रत्येक मूलवासी डी.एल. वाइटमेन के शब्दों में 'ईसा मसीह में समाया हुआ नया जीवन' न होकर 'एक युरोपियन की तरह का नया जीवन' प्राप्त करने वाली शै में सीमित हो गया। ईसाई बनाने की इस अंतर्निहित विकृति में भाषा की भूमिका विशेष रूप से उल्लेखनीय थी।[23] ऊपर के उद्धरणों से एक बात स्पष्ट होती है कि युरोपीय मिशनरियों को यकीन था कि देशज भाषाओं में बाइबिल का संदेश देने की क्षमता तभी आ सकती है, जब उन्हें मुख्य तौर से युरोपीय तर्ज पर मानकीकरण के जरिये लेखन की भाषा बनाया जाए। मिशनरी इन भाषाओं के नये रूपों को 'अवांछित किस्म' के पारम्परिक ज्ञान से मुक्त भी करना चाहते थे। इस युरोपीय समझ ने बेबेल की मीनार वाली ओल्ड टेस्टामेंट की कथा का दामन कभी नहीं छोड़ा। भाषाई विविधता को ईश्वर प्रदत्त अभिशाप की तरह देखने वाली इस कथा के प्रभाव के कारण ईसाई मिशनरी मानते रहे कि 'केवल ईसायत ही 510 जुबानों के कारण पैदा हुई नाना प्रकार के दर्शनों, पुराकथाओं, पेगन रीति–रिवाजों और लोकोत्तर भीतियों को प्रतिस्थापित कर सकती है। केवल इन 510 जुबानों को समाप्त करने और उनकी एक सामान्य भाषा को स्वीकार करके ही कई तरह के अप्राकृतिक आचरणों का खात्मा हासिल किया जा सकता है।'[24]

पूछा जा सकता है कि किसी गैर–ईसाई भाषा में बाइबिल का अनुवाद करने की प्रक्रिया मिशनरियों को उस भाषा के कितना नज़दीक ले जाती होगी? एक हद तक इसका जवाब बटक (सुमात्रा की एक भाषा) में बाइबिल रचने के उदाहरण से मिल सकता है। डच मिशनरी सोसाइटी (एनजैडजी) द्वारा सुमात्रा की बटक भाषा में बाइबिल का अनुवाद करने की जिम्मेदारी हरमन वान डर टूक को दी गई। उन्हें औपनिवेशिक युग के सबसे प्रतिष्ठित भाषाशास्त्रियों में से एक माना जाता है। निजी तौर पर वान

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

डर टूक को ईसाई धर्मनिष्ठा में खास दिलचस्पी नहीं थी। अपना काम पूरा कर लेने के बाद जब उन्होंने अपने अनुभव की स्वयं समीक्षा की, तो उन्हें कुछ और पता चला। दरअसल, उन्हें अनुवाद की जिम्मेदारी देने वाले मिशनरी संगठन को इस बात में कोई दिलचस्पी नहीं थी कि वे बटक भाषा को अच्छी तरह से सीखकर उसमें रम जाएँ। उन्होंने अपने एक मित्र को लिखे पत्र में यह क़ैफ़ियत बयान की है। उन्होंने महसूस किया कि बाइबिल का अनुवाद करने के दौरान पेगन भाषा के साथ बने आत्मीय संबंधों को मिशनरी हल्कों में बहुत सराहनीय नहीं माना जा रहा है। दरअसल, ऐसा अनुवादक उनकी निगाह में कुछ–कुछ खलनायक जैसा हो जाता है। अनुवादक से उम्मीद की जाती है कि उसे भाषा में उतना ही उतरना है, जितना काम के लिए जरूरी है। पेगन भाषा, उसके विभिन्न प्रयोगों और उसे बोलने वालों के साथ निकटस्थ संवाद को मिशनरी संगठन अपनी मज़हबी आस्थाओं के लिए प्रदूषणकारी मानता था। वान डर टूक को हमेशा पछतावा रहा कि उन्होंने मिशनरियों के कहने पर बाइबिल का बटक में अनुवाद किया। इस प्रकरण को लेकर उनके मन में अपने राष्ट्र (नीदरलैंड) और अपने सेवायोजक (एनजैडजी) के प्रति तल्ख़ी बनी रही। एक भाषाशास्त्री के रूप में उनके प्रशिक्षण ने उन्हें निष्कर्ष निकालने पर मजबूर किया कि बटक के आंशिक ज्ञान के आधार पर ही अनुवाद का काम सम्पन्न करने के कारण वे इस भाषा का पर्याप्त अर्थग्रहण नहीं कर पाए। इस परिणाम ने एक दुविधा को जन्म दिया, एक ऐसी दुविधा को जो संभवतः कम योग्य, कम संवेदनशील या अपनी पेशेवराना योग्यता–क्षमता के प्रति कम प्रतिबद्ध अनुवादक को आम तौर पर न सताती।

मिशनरी कार्य के भाषिक आयामों पर एक निष्पक्ष दृष्टि डालने से दिखाई पड़ता है कि उनका कम से कम एक छोटा हिस्सा ऐसा ज़रूर था, जो ईसाईकरण के काम को युरोपीय औपनिवेशिक सत्ता की आवश्यकताओं से मुक्त रखना चाहता था। कुछ आदर्शवादी जर्मन और स्विस मिशनरी नये ईसाइयों की दीक्षा कुछ इस तरह से करना चाहते थे कि युरोप के मुक़ाबले नव–दीक्षितों के मन में हीनताबोध न पनपे। इस आग्रह ने आस्थामूलक और सत्तामूलक परियोजनाओं के बीच एक विचारधारात्मक अन्तर्विरोध पैदा किया। लेकिन, यह अंतर्विरोध युरोईसाइयत और उपनिवेशवाद के संबंधों को बहुत दूर तक प्रभावित करने में सक्षम नहीं हो सका। व्याकरण लिखने

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

के जरिये किसी आदिवासी भाषा का पुनः संस्कार करने, पेगनों के बीच स्कूल खोलने, उन्हें साक्षरता और आधुनिक शिक्षा के संसार में ले जाने का उद्यम अपने विन्यास में था ही कुछ इस तरह का कि औपनिवेशिक संस्था और संस्कृति की मातहती से उसके बोलने वालों का बच पाना नामुमकिन था। मूलवासियों की भाषा और युरोपीय भाषा के बीच के संबंध उपनिवेशीकरण की तरफ झुकने के लिए अभिशप्त थे। न्यूज़ीलैंड में माउरी मूलवासियों के बीच मिशनरियों द्वारा चलाए गए शिक्षा अभियान की प्रक्रिया और नतीजों पर गौर करने से इसका ज्वलंत प्रमाण मिल सकता है।

उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में मिशनरियों ने माउरियों के बीच स्कूलों की शुरुआत की। दो माउरी कबीलों के सरदारों के साथ दो पादरी इंग्लैंड गए और कैम्ब्रिज में पढ़ाने वाले अरबी के एक प्रोफेसर की मदद से 'न्यूज़ीलैंड की भाषा' का एक व्याकरण और शब्दावली तैयार की। इससे एक बुनियादी ढाँचा तैयार हुआ, जिसके आधार पर माउरियों के बीच युरोपीय मिशनों ने लिखाई–पढ़ाई का सिलसिला चलाया। 1815 से 1830 के बीच में चले इस घटनाक्रम का परिणाम यह निकला कि अंग्रेजों के मानक के मुताबिक़ माउरी स्कूल ठीक ढंग से चलने लगे। शिक्षा, साक्षरता और ईसाइयत के त्रिकोण के माध्यम से माउरी समुदाय को 'क्रिश्चियन साल्वेशन' के लिए तैयार किया जाने लगा। 1840 में अंग्रेज उपनिवेशकों ने 'पढ़े–लिखे' माउरियों को उनके आदिवासी समय से निकाल कर बाक़ायदा युरोप के औपनिवेशिक समय में ले जाने का फैसला किया।

वैतंगी नामक स्थान पर न्यूज़ीलैंड के होने वाले गवर्नर ने माउरी कबीलों के सरदारों को जमा किया, ताकि माउरी भू–क्षेत्र के अधिग्रहण के लिए एक अधिकृत कानूनी दस्तावेज पर उनके दस्तख़त लिये जा सकें। पहले उन सरदारों के सामने एक उपनिवेशक ने ऊँची आवाज़ में उस दस्तावेज़ को अंग्रेज़ी भाषा में पढ़ा। ज़ाहिर है कि कबीलों के सरदार कुछ भी नहीं समझ पाए। इसके बाद उस दस्तावेज़ का माउरी–अनुवाद पढ़ कर सुनाया गया। इस 'अनूदित' दस्तावेज को जिस माउरी में तैयार किया गया था, वह ढेर सारे अंग्रेजी शब्दों से भरी हुई थी। इसलिए सरदारों के लिए वे तमाम शब्द केवल ध्वनियों की तरह थे, और उनका अर्थग्रहण करना उनके लिए नामुमकिन था। अंत में माउरी सरदारों ने उस दस्तावेज़ पर अपने दस्तख़त कर दिये, और नाममात्र के लिए ही सही, यह प्रमाणित कर दिया

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कि वे साक्षर हैं, और उन्होंने उस संधि पर सोच–समझकर हस्ताक्षर किये हैं।

इस प्रकरण के एक साक्षी, जो माउरियों में साक्षरता के प्रसार के लिए सामग्री मुद्रित करता था, ने औपनिवेशिक अधिकारियों के सामने शंका व्यक्त की थी कि क्या वास्तव में क़बीलों के सरदार उनकी बात समझ पाये हैं? इस पर उपनिवेशकों की तरफ से जवाब था कि ये सरदार पढ़े–लिखे (अंग्रेजी में नाममात्र की साक्षरता) तो हैं ही, साथ ही वे उनके बीच काम करने वाले पादरियों की सलाह पर भी यकीन करते हैं। गवर्नर को विश्वास था कि ये सरदार उस सूरत में भी कोई विपरीत प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं करेंगे, जब उन्हें बाद में कोई ऐसी बात पता चलेगी, जिसे वे दस्तख़त करते समय नहीं समझ पाए हों। वैतंगी संधि के नाम से जाना गया यह प्रकरण 'नयी दुनिया' में उपनिवेशवाद के एकदम शुरुआती क्षण के तहत घटित हुए 'रिक्वायरिमेंटो' जैसा ही था। 1513 में स्पेन के राजा फ़र्डिनांड ने स्पेनिश (तत्कालीन कैस्टिलियन) में रिक्वायरिमेंटो नाम का यह दस्तावेज तैयार कराया था। फ़्रांसिस्को पिजारो और हरनान कोर्टेज़ जैसे क्रूर कोंक्विस्टाडोरों के नेतृत्व में आज के मैक्सिको और पेरू के मूलवासियों के सामने कैस्टीलियन या स्पेनिश में लिखा यह दस्तावेज़ पढ़ा जाता था, ताकि उनकी ज़मीनों और सम्पत्ति पर कानूनन क़ब्ज़े की घोषणा की जा सके। मूलवासी इन दस्तावेजों का एक भी शब्द नहीं समझ पाते थे। दस्तावेज में साफ़ लिखा होता था कि इस क़ब्ज़े के बाद मूलवासियों के बाल–बच्चों को गुलाम बनाना और बाजार में बेच देने का अधिकार भी उपनिवेशकों को मिल गया है। वैतंगी संधि और रिक्वायरिमेंटो के बीच अंतर केवल इतना ही था कि न्यूजीलैंड के आदिवासियों को मिशनरी नाममात्र के लिए 'साक्षर' बना चुके थे, ताकि उनके दस्तख़त लिये जा सकें।[25]

जिन भाषाओं पास पहले से अपनी स्थापित लेखन–पद्धति और व्याकरण थी, मिशनरी उनमें कोई ख़ास तरमीम करने की स्थिति में नहीं थे। लेकिन, उन्हें बर्बरों की भाषा करार देने में मिशनरियों को कोई हिचक नहीं होती थी। जिन देशों और संस्कृतियों में उन्हें पैठ बनाने का मौका नहीं मिला, उनके बारे में वे केवल तिरस्कार और कठोरतम शब्दों का ही इस्तेमाल करते थे। इस संबंध में चीनी भाषा का उदाहरण द्रष्टव्य है। प्राचीन काल से अपनी साहित्यिक–विमर्शी श्रेष्ठता के लिए विख्यात इस

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

भाषा के बारे में मिशनरियों की राय खासी भयावह थी : 'यद्यपि इस धारणा को साबित नहीं किया जा सकता है कि शैतान ने चीनी भाषा की रचना में विशेष भूमिका निभाई है– फिर भी हमें किसी ऐसी और भाषा के बारे में जानकारी नहीं है, जो शैतान की दुष्ट योजनाओं को प्रोत्साहित करने में इतनी निपुण हो।'[26] सत्रहवीं और अठारहवीं सदी में पादरियों ने हिंदी के तीन व्याकरण लिखे थे। इनमें से एक लेखक जान जोशुआ कैटलर ने हिंदुस्तानी को 'बर्बरों की भाषा' की संज्ञा दी। इन पादरियों की मान्यता विरोधाभासी थी। एक तरफ तो उन्हें मानना पड़ रहा था कि हिंदुस्तानी की शब्द–सूची इतनी विस्तृत है कि उसमें लातिन के एक शब्द के लिए तीन–तीन समानार्थक शब्द मिल जाते हैं, दूसरी तरफ वे इसे एक अशिक्षित समाज की भाषा बता रहे थे।[27]

बीसवीं सदी तक आते–आते मिशनरी भाषा–नीति में स्थानीय भाषाओं के लिए जो कुछ था, वह पूरी तरह से खत्म हो चुका था। नये मिशनरी उन पुराने पादरियों को व्यंग्य से देखने लगे थे, जिन्होंने नये ईसाइयों को उनकी अपनी भाषाओं में शिक्षित करके ईसाइयत का पाठ पढ़ाने की कोशिश की थी। नये मिशनरियों ने साफ़ तौर पर कहना शुरू कर दिया था कि उनके पास एक अलग तरह की योजना है : 'अब हमारे पास संसाधन हैं और मानवशक्ति है। हम तुम्हारे बच्चों को जल्दी से जल्दी अंग्रेजी (या फ्रेंच) पढ़ाएँगे। हमारा मक़सद है सरकारी स्कूलों से शिक्षा के माध्यम के रूप में स्थानीय भाषाओं को जल्दी से जल्दी हटाना। अन्य भाषाएँ सिखाने की जिम्मेदारी माता–पिता और मजहबी शिक्षकों के लिए छोड़ी जा सकती है।'[28]

मिशनरी भाषा–विज्ञान और नव–उपनिवेशवाद

देखने की बात है कि उपनिवेशवाद से नव–उपनिवेशवाद तक की यात्रा में भाषा और ईसाइयत का यह समीकरण किस मुकाम तक पहुँच चुका है। अगर संबंधित साहित्य पर एक सरसरी नज़र भी डाली जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि आज भी विश्व ईसाई प्रतिष्ठान पहले जैसी ऊर्जा, संसाधनों और प्रतिबद्धता के साथ दुनिया भर की भाषाओं को अपने और नव–उपनिवेशवाद के हितार्थ लामबंद करने में लगा हुआ है। अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में अगर उपनिवेशित देशों में मुख्य तौर से लंदन मिशनरी सोसाइटी और डच मिशनरी सोसाइटी जैसे ग़ैर–सरकारी संगठनों की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

तरफ से मिशनरियों की खेपें पहुँचती थीं, तो आज के जमाने में इसका ज़्यादातर ज़िम्मा अन्य संगठनों के साथ–साथ कुछ अमेरिकी प्रतिष्ठानों ने उठा रखा है। इनमें एक है अमेरिकन बैप्टिस्ट मिशन, जो 28 करोड़ डॉलर से ज़्यादा के बजट से संचालित होता है, और जिसने सारी दुनिया में पाँच हज़ार मिशनरी भेज रखे हैं। अमेरिकी लहज़े में अंग्रेज़ी बोलने वाले ये मिशनरी भाषाओं पर काम करते हैं (आजकल अंग्रेज़ी हर किस्म के मिशनरियों की सर्वाधिक प्रिय भाषा है)। लेकिन, इससे भी ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है वाइक्लिफ़ बाइबिल ट्रांसलेटर्स (डब्ल्यूबीटी) और समर इंस्टीट्यूट ऑफ़ लिंगुइस्टिक्स (एसआईएल) की गतिविधियाँ। इनकी गतिविधियों से पता चलता है कि युरोप की साम्राज्यिक भाषाओं के दबदबे हेतु जमीन तैयार करने के लिए आज भी वही पुरानी भाषिक प्रौद्योगिकी इस्तेमाल की जा रही है।

लातिन अमेरिका से काम शुरू करने वाले इन दोनों संगठनों का आपसी रिश्ता गर्भनाल का है। इन दोनों की स्थापना भी एक ही व्यक्ति, विलियम कैमरून टाउनसेंड (पादरियों के संघ द्वारा शासित चर्च के एक बड़े अधिकारी) ने की थी। दोनों का दफ़्तर भी एक ही जगह (डलास, यू.एस.) है, और एक संगठन का सदस्य अपने आप दूसरे संगठन का सदस्य भी मान लिया जाता है। अमेरिकी सरकार, सीआईए, और कॉरपोरेट पूँजी का हाथ इन दोनों की पीठ पर है। यह पूछा जा सकता है कि एक ही काम के लिए दो संगठन क्यों बनाये गए थे? दरअसल, जिन देशों की सरकारें मिशनरी गतिविधियों की इजाजत नहीं देतीं, वहाँ यह इंस्टीट्यूट भाषा–विज्ञान के नाम पर जाता है; और, जहाँ यह इजाज़त मिल जाती है, वहाँ बाइबिल का अनुवाद और भाषाशास्त्रीय काम साथ–साथ चलता है। यह भाषाशास्त्रीय काम वही है जिसका ऊपर विश्लेषण किया जा चुका है– अपने प्रोटेस्टेंट औपनिवेशिक पूर्वजों के नक़्शे–कदम पर चलते हुए लेखन न कर सकने वाली मूलवासियों की भाषाओं के व्याकरण और शब्दकोश तैयार करना, ताकि उनमें ईसाई धर्मशास्त्रों का प्रकाशन किया जा सके, और इस प्रक्रिया में उन समाजों को उत्तरोत्तर नव–उपनिवेशवाद के दायरे से जोड़ा जा सके। समर इंस्टीट्यूट या एसआईएल ने दुनिया की एक हज़ार भाषाओं का अध्ययन करने के लिए 5,300 मिशनरी भाषाशास्त्रियों को प्रशिक्षित किया है। इस काम में टेक्सास विश्वविद्यालय के साथ उसका विशेष सहयोग–समझौता रहा है। दुनिया की भाषिक विविधता की जानकारी देने वाले आज

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

तक के सबसे बड़े और सर्वाधिक उद्धृत संग्रह 'इथनॉलॉग' को मुद्रित और डिजिटल रूपों में प्रकाशित करने का श्रेय इसी संगठन को जाता है।

एसआईएल और डब्ल्यूबीटी के संस्थापक कैमरून टाउनसेंड (1896–1982) की जीवनी पर निगाह डालते ही स्पष्ट हो जाता है कि नव–उपनिवेशवादी नज़ारे में मिशनरियों की भाषा से संबंधित भूमिका क्या है। एक इंजीली प्रचारक के रूप में टाउनसेंड ने बीसवीं सदी के दूसरे दशक में ग्वाटेमाला की धरती पर अपना काम शुरू किया। तब तक ग्वाटेमाला को स्पेनिश उपनिवेशवाद से आज़ाद हुए करीब एक सदी हो चुकी थी। वहाँ की साठ फीसदी आबादी माया इंडियनों की थी, जो आजाद होने के बावजूद स्पेनी बोलने वाले अल्पसंख्यक श्वेतांगों के प्रभुत्व तले पिस रहे थे। टाउनसेंड ने इन हाशियाग्रस्त और शोषित माया इंडियनों को ईसाई बनाने की मुहिम शुरू की। स्पेनिश में लिखी बाइबिल बेचने के इंजीली उद्यम के दौरान एक माया इंडियन ने उनसे पूछा कि ईश्वर को उसकी भाषा सीखने पर ऐतराज क्यों है? धरती पर ईश्वर के अकिंचन प्रतिनिधि के रूप में टाउनसेंड ने इस शिकायत का निवारण करने का फैसला किया। 1931 तक उन्होंने काक्शिकल नामक स्थानीय भाषा सीख कर उसका व्याकरण लिख डाला, और फिर फटाफट उसी भाषा में बाइबिल का अनुवाद कर दिया। उल्लेखनीय है कि इस अनुवाद की पहली प्रति किसी मायन इंडियन को न दे कर टाउनसेंड ने ग्वाटेमाला के तानाशाह उबिको को भेंट की। उबिको ने आदिवासी भाषा में लिखी गई उस बाइबिल का इस्तेमाल बागानों में सस्ते श्रम के लिए गरीब इंडियनों को गोलबंद करने के औजार के रूप में किया। ये मायन इंडियन ईसाइयत में नव–दीक्षित होने के साथ–साथ मिशनरी प्रयासों के परिणामस्वरूप नव–साक्षर भी थे। टाउनसेंड का विचार था कि बागान श्रमिक बन कर वे 'प्रगति' की तरफ पहला कदम उठा रहे थे। उनकी योजना थी कि पहले दौर में मायन अपनी भाषा काक्शिकल के साक्षर बनेंगे, पर उनकी बाद की पीढ़ियाँ अधिक प्रतिष्ठित और लाभकारी स्पेनिश सीखेंगी, स्पेनिश की बाइबिल पढ़ेंगी, और स्पेनिश प्रभुत्व वाले राजनीतिक–नागरिक समाज का हिस्सा बनेंगी। पहले दिन से ही टाउनसेंड अपने भाषाई प्रयासों को एक साभ्यतिक मिशन के रूप में देख रहे थे।

इसके बाद टाउनसेंड अमेरिका वापिस गए, और भाषिक प्रौद्योगिकी में पारंगत क्रिश्चियनिटी के सिपाहियों को प्रशिक्षित करने का बीड़ा उठाया। यह बीसवीं सदी का वह समय था, जब तुलनात्मक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

फ़िलॉलॅजी को पीछे छोड़ कर भाषा–विज्ञान के वर्णन परक और संरचना परक अनुशासनों का आगमन हो चुका था। संरचनापरक भाषा–विज्ञान के संस्थापक फर्डिनांड डि सस्यूर थे। उनके विचारों के आधार पर भाषा–वैज्ञानिक विधियों की एक पूरी संहिता तैयार हो चुकी थी। टाउनसेंड को लगा कि अगर उन्होंने इस संहिता में अपने इंजीली सिपाहियों को पारंगत कर दिया, तो वे दुनिया के किसी भी कोने में जा कर 'लेखन से वंचित और इसलिए पिछड़ी हुई' प्रत्येक भाषा को युरोपीय पद्धति के मुताबिक लिखित भाषा में बदल देंगे। टाउनसेंड इस नये भाषाशास्त्र के तत्कालीन महारथी एडवर्ड सैपिर के साथ नियमित सम्पर्क में थे। सैपिर के ही एक प्रिय शिष्य केनेथ पाइक ने उनके संसर्ग में रहते हुए 1947 में एक किताब लिखी। इसका शीर्षक फ़ोनेमिक्स : टेक्नीक फॉर रिड्यूसिंग लेंग्वेजिज़ टू राइटिंग था। यह फ़ोनेमिस्क पाइक और टाउनसेंड के लिए एक 'सिस्टम' और 'टेक्नीक' था, जिसके दम पर ये दोनों स्वयं को भाषा के 'वैज्ञानिक' के तौर पर पेश करते थे। लेकिन फ़ोनेमिक्स नामक इस तंत्र के बारे में स्वयं पाइक का एक कथन उनकी ईसाई लिंग्विस्टिक्स की चुगली खाने के लिए काफी है। पाइक का कहना था कि फ़ोनेमिक्स 'आदिवासी समुदायों को अराजकता से बचाने के लिए एक ऐसी नियंत्रण प्रणाली है, जिसे ईश्वरीय महिमा से सम्पन्न किया गया है?' उल्लेखनीय है कि संरचनापरक भाषा–विज्ञान के प्रणेता सस्यूर वैसे तो भाषा–विमर्श को किसी भी प्रकार की विचारधारात्मक जाँच–पड़ताल से अलग रखने के सचेत हिमायती थे, लेकिन एडोल्फ़ पिचेट के साथ उनके और उनके भाई की चर्चाओं के अध्ययन से यह प्रच्छन्न तथ्य निकल कर आया है कि वे भाषाई इतिहास की फ़िलोलॅजीकल–कम–नस्लवादी सैद्धांतिकी से बाकायदा प्रभावित थे। सस्यूरियन भाषा–विज्ञान के प्रमुख हस्ताक्षर होने के साथ–साथ पाइक 1942 से 1982 तक एसआईएल के अध्यक्ष पद पर भी आसीन रहे। यह तथ्य इस बात का एक और प्रमाण है कि भाषा–विज्ञान नाम का अनुशासन किस तरह आज भी बाइबिल से निकले मोज़ेक नृजाति–विज्ञान से जुड़ा हुआ है।[29]

टाउनसेंड ने पहले 1934 में एसआईएल की शुरुआत की, ताकि उसके जरिये औपनिवेशिक और नव–औपनिवेशिक भाषा–विमर्श की कथित रूप से 'वैज्ञानिक', 'तटस्थ' और 'गैर–विचारधारात्मक' दावेदारियों का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

विनियोग किया जा सके। इसके बाद अपने काम के इंजीली पक्ष को मंचस्थ करने के लिए 1942 में उन्होंने डब्ल्यूबीटी का गठन किया। इन दोनों संगठनों को शुरू–शुरू में संयुक्त राज्य अमेरिका के खिलाफ लातिन अमेरिका में कम्युनिस्ट गतिविधियों के शमन में योगदान करने का दायित्व भी दिया गया था। लेकिन, इस फ़ौरी मकसद के साथ–साथ वे राज्य की संस्था के प्रति आज्ञापालन के आदर्श को लोगों के दिमाग में इस तर्क के आधार पर बैठाने में लगे हुए थे कि आपको मिली सरकार ईश्वर की देन है। टाउनसेंड ने एक उपन्यास भी लिखा था, जिसका मिशनरी नायक ग्वाटेमाला के बागियों को यही उपदेश देता है, और प्राण त्यागते समय उसकी 'शहादत' विद्रोहियों को नैतिक रूप से समर्पण करने के लिए मजबूर कर देती है।[30]

इन संगठनों के प्रभाव और व्यापकता का अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि इनके बहुतेरे सदस्य अमेरिकी विश्वविद्यालयों के भाषाशास्त्र विभागों में अध्यापन करते हैं। साठ देशों में सक्रिय छह हजार कार्यकर्ताओं के साथ इन संगठनों ने दुनिया के इक्कीस देशों के विश्वविद्यालयों और सरकारों के साथ शिक्षा और शोध के मकसद से करार (एमओयू) कर रखा है। कुल मिला कर ये संगठन 1,660 भाषा–परियोजनाएँ चला रहे हैं, जिनके दायरे में 162 देशों के एक अरब से ज्यादा लोग आते हैं। इनके पास 'विलुप्त प्रायः' समझी जाने वाली एक हजार अल्पसंख्यक भाषाओं के बारे में तथ्य–सामग्री है। पश्चिमी प्रभाव और नव–उपनिवेशवाद पर तलस्पर्शी नजर डालने वाले विद्वानों ने इन संगठनों की विस्तृत और गहन आलोचना विकसित की है। इस आलोचना के अनुसार एसआईएल के फ़ील्ड वर्कर ऐसी भाषाओं को बचाने के बजाय इनके स्वरूप को बदलने और प्रकारांतर से उन्हें खत्म करने में लगे हुए हैं। एसआईएल से जुड़े भाषाशास्त्र के विभाग उसी के बनाये हुए सॉफ़्टवेयर और फ़ांट इस्तेमाल करते हैं, जिनकी इस लक्ष्य को वेधने में अदृश्य भूमिका रहती है। एसआईएल के पास इन आलोचनाओं का एक तैयारशुदा जवाब रहता है कि वह भाषाओं के जरिये लाये जाने वाले सांस्कृतिक परिवर्तन को 'भाषा–मृत्यु' या 'संस्कृति–विनाश' के परिप्रेक्ष्य में देखने के लिए तैयार नहीं है। एसआईएल दावा करता है कि संस्कृति–विनाश या 'एथ्नोसाइड' एक वैध अवधारणा नहीं है, और अगर इसे प्रोत्साहन दिया गया तो सांस्कृतिक परिवर्तन की प्रक्रिया को ही अनुचित और नकारात्मक मान लिया जाएगा।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

IV

स्पेनी भाषा और रोमन कानून : पहला उपनिवेशन

उपनिवेशवाद की भाषाई विचारधारा के मसीही आयाम पर एक नज़र डालने के बाद इस खंड में उन युक्तियों, रणनीतियों और कार्यनीतियों का विश्लेषण किया गया है, जिनके जरिये भाषाई उपनिवेशीकरण को पिछले पाँच सौ साल के दौरान कारगर रूप दिया गया है। मेरे विचार से पिछले पाँच सौ साल में हुए भाषाई उपनिवेशन के अनुभवों में से तीन बड़े प्रारूप उभरते हुए देखे जा सकते हैं, जिन्होंने इस विचारधारा के लिए कार्यकारी भूमिका निभाई है। इनमें पहला है अप्रत्यक्ष उपनिवेशन वाला वर्नाक्युलर मॉडल (भारत के संदर्भ में देशभाषा मॉडल), दूसरा है प्रत्यक्ष उपनिवेशन वाला मेट्रोपोलिटन मॉडल (युरोपीय भाषाओं को सीधे–सीधे थोपने का मॉडल) और तीसरा है 'व्यापकतम प्रसार की' स्थानीय भाषा के जरिये उपनिवेशीकरण करने वाला मॉडल (इसे उपनिवेशन की होड़ में देर से आये युरोपीय देशों ने अपनाया है)।

वर्नाक्युलर मॉडल के तहत उपनिवेशवादी पहले योजनाबद्ध ढंग से बहुत लम्बे अरसे (डेढ़ सौ–दो सौ साल) तक स्थानीय भाषाओं से अपना काम लेते दिखाई देते हैं। परिस्थिति अनुकूल होते ही युरोपीय मुख्यालय की भाषा थोप दी जाती है। परिणामस्वरूप, देशभाषाओं को या तो जबरन चलन से बाहर हो जाना पड़ता है, या वे युरोपीय प्रभु भाषा की सम्पूर्ण मातहती में चली जाती हैं। मोटे तौर पर इस मॉडल को ब्रिटिश उपनिवेशवाद से जुड़ा हुआ माना जा सकता है। मेट्रोपोलिटन मॉडल के तहत उपनिवेशवादी देशभाषाओं की कोई परवाह नहीं करते, और पहले दिन से ही अपने युरोप स्थित मेट्रोपोलिटन मुख्यालय की भाषा को सत्ता की ताकत के दम पर निर्ममता से थोपते हैं। फ्रांसीसी उपनिवेशवाद का आचरण इस मॉडल के अनुरूप है। इन दोनों से कुछ अलग हटते हुए 'व्यापक संचार वाली भाषा' का मॉडल एक खास परिस्थिति की पैदाइश है। इसके तहत उपनिवेशवादी अधिसंख्य आबादी के इस्तेमाल में आने वाली भाषा को चुन कर उसे अपनी आवश्यकताओं के लिए नये सिरे से गढ़ते हैं। इस तरह एक नयी औपनिवेशिक भाषा ही पैदा हो जाती है, और उपनिवेशकों को अपनी युरोपीय प्रभु भाषा आरोपित करने की कोई जरूरत नहीं पड़ती। अफ्रीका में बेल्जियन उपनिवेशवाद ने, और एशिया में डच उपनिवेशवादियों ने इस

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

मॉडल को आजमाया है। कहना न होगा कि विभिन्न उपनिवेशवादी ताक़तों द्वारा स्थानीय परिस्थितियों के मुताबिक ग़लती करने और उसे सुधारने की प्रक्रिया के दौरान इन प्रारूपों को विकसित किया गया है। ये कहीं पूरी तरह सफल हुए हैं, और कहीं आंशिक रूप से। कभी–कभी इन मॉडलों को विफलता भी मिली है, लेकिन उनकी नाकामी भी अपने पीछे परसंस्कृतिकरण, सांस्कृतिक द्वैध, दमन और उपनिवेशितों की ज्ञान–प़रम्पराओं के विनाश की बेचैनी भरी दास्तान छोड़ गई है। खास बात यह है कि इन तीनों प्रारूपों के बीज और प्रेरणाएँ पुर्तगाली और स्पेनी उपनिवेशवाद के शुरुआती अनुभव में मौजूद थीं।

युरोपीय प्रभुभाषाओं में पुर्तगाली और स्पेनी ने अपना औपनिवेशिक प्रसार सबसे पहले शुरू किया था। इस प्रकरण में भाषा और उपनिवेशवाद के अंतरंग संबंधों का पहला साम्राज्यिक प्रयोग देखा जा सकता है। इसकी विशेषता यह थी कि व्यावहारिक और लचीला होने के साथ–साथ यह सैद्धांतिक सूत्रीकरण के जरिये अपने साम्राज्यिक लक्ष्यों के प्रति अटल था। इसकी पृष्ठभूमि समझने के लिए इससे जुड़े दो ऐसे ऐतिहासिक प्रकरणों पर रोशनी डालनी आवश्यक है, जो दोनों भाषाओं द्वारा उपनिवेशीकरण और उसके साम्राज्यिक संबंधों के सर्वोच्च रूपक की हैसियत ग्रहण कर चुके हैं। खास बात यह है कि ये दोनों घटनाएँ 1492 में घटित हुई थीं। यह कोई मामूली साल नहीं था। साल की शुरुआत में ही लम्बे अरसे से चल रही 'रिकोंक्विस्टा' (मूरिश इस्लाम के ऊपर कैथॅलिक ईसाइयत की पुनः विजय) की मुहिम के तहत मूरों का आखिरी गढ़ ग्रैनेडा में ढह गया था, और जिसे आज का स्पेन (कैस्टीले और अरागों) कहते हैं, वह पूरा विशाल क्षेत्र कैथॅलिक सम्राट फ़र्डिनांड और साम्राज्ञी इसाबेला ने अपने नियंत्रण में कर लिया था। इसी साल मार्च में साम्राज्ञी ने एक राजाज्ञा जारी करके मूरों और यहूदियों को उस क्षेत्र से निष्कासित कर दिया, जहाँ वे सदियों से निवास कर रहे थे (बावजूद इसके कि मूरों ने इसी शर्त पर आत्मसमर्पण किया था कि उन्हें वहाँ रहने दिया जाएगा)। इसी साल तीन अगस्त को क्रिस्टोफ़र कोलम्बस ने नयी दुनिया की खोज में पश्चिमी विश्व की समुद्री यात्रा शुरू की। इस यात्रा को भी इसाबेला और फ़र्डिनांड का शाही आशीर्वाद प्राप्त था।[31]

कोलम्बस के जहाजी बेड़े ने गुआनाहीनी नामक कैरिबियन द्वीप के किनारे 12 अक्टूबर को लंगर डाला। इस द्वीप पर अरावाक समुदाय के लोग

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

रहते थे। कोलम्बस ने अपने रोज़नामचे में खुद दर्ज किया है कि उसने बेड़े के दो कप्तानों से अपने साथ तट पर चलने के लिए कहा। कोलम्बस चाहता था कि जब वह इस द्वीप पर क़ब्ज़ा करके उसका नामकरण करे, तो उसके दोनों कप्तान विजय की उस प्रक्रिया के क़ानूनन साक्षी रहें। कोलम्बस के बेड़े को देखते ही अरावाकियन लोग तोहफ़े ले कर युरोपियन जहाज़ियों का स्वागत करने आए। उन्होंने इससे पहले युरोप के किसी व्यक्ति को देखा भी नहीं था। अरावाकियनों से तोहफ़े लेते समय उनके बारे में कोलम्बस की जो राय बनी, वह भी उसने अपने रोज़नामचे में दर्ज की है। उसका ख्याल था कि ये लोग बेवकूफ़ नहीं हैं, इसलिए गुलाम के तौर पर काम के साबित हो सकते हैं। इन लोगों को आसानी से ईसाई बनाया जा सकता है, क्योंकि लगता है कि ये किसी मज़हब से जुड़े नहीं हैं। कोलम्बस ने बताया कि उसका इरादा इनमें से छह को पकड़ कर अपने साथ ले जाना है, ताकि उन्हें स्पेनी सिखा कर दुभाषिया बनाया जा सके।[32] इस प्रकरण में कोलम्बस उपनिवेशन की तीन परम्पराओं का सूत्रपात करते हुए दिखता है। उसने द्वीप पर क़ब्ज़ा करके साम्राज्य का विस्तार किया, वहाँ के निवासियों को ईसाई बनाने का इरादा बनाया, और उनका अपहरण कर उन्हें स्पेनी सिखाने की योजना बनाई। वह चाहता तो दुभाषिये के तौर पर अपने कुछ साथियों को स्थानीय भाषा सीखने की ज़िम्मेदारी दे सकता था, पर ऐसा करना विजेताओं द्वारा विजितों पर अपनी भाषा थोपने के नियम के विपरीत होता।

दो दिन बाद, 14 अक्टूबर को, जब कोलम्बस का बेड़ा वहाँ से रवाना हुआ, तो उसने उस द्वीप को स्पेन के साम्राज्य में मिला लिया था। प्रश्न यह है कि गुआनाहीनी नामक कैरिबियन द्वीप पर कोलम्बस ने जीत कैसे हासिल की? क्या हथियारों के ज़रिये? कोलम्बस के पास हथियार थे, लेकिन किसी ने उसका विरोध ही नहीं किया। असल में अरावाकियनों को एहसास तक नहीं था कि युरोपीय लोग उन्हें गुलाम बनाने आये हैं। ज़ियाउद्दीन सरदार और उनके साथी विद्वानों का विचार है कि 'अगर अरावाकियनों को एहसास होता कि उनके साथ क्या होने लगा है, तो वे निश्चित रूप से स्पेनी जहाज़ों पर हमला करके कोलम्बस को समुद्र में फेंक देते, और उसे डूबता हुआ देख कर खुशी से नाच उठते। अगर वे ऐसा करते, तो उनके इस कृत्य को पूरी तरह से न्यायोचित ठहराया जाता।'[33]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

दरअसल, कोलम्बस के पास दो ऐसे उपकरण थे जिन्हें उस समय तक हथियार के तौर पर इस्तेमाल करने के बारे में सोचना भी मुश्किल था। एक हथियार था स्पेनी भाषा, और दूसरा था रोमन क़ानून। आज की तारीख में यह देख कर ताज्जुब हो सकता है, लेकिन कोलम्बस ने वास्तव में भाषा और क़ानून के दो हथियारों के ज़रिये न केवल उस द्वीप को जीता, बल्कि इसी तरह वेस्ट इंडीज़ के द्वीपों को एक के बाद एक स्पेनी साम्राज्य में मिलाने का लम्बा सिलसिला चलाया।

स्टीफ़न ग्रीनब्लैट और ज़्वेतान तोदोरोव की रचनाओं की मदद से उपनिवेशन की इस भाषाई शुरुआत का अर्थग्रहण किया जा सकता है। स्पेन से आये जहाज़ी प्राधिकार की जिस परम्परा के वाहक थे, वह रोमन लॉ के मुताबिक बनी थी। इस कानून के अनुसार अगर किसी जगह पर क़ब्ज़ा करने की मौखिक घोषणा करने के बावजूद उस पर कोई आपत्ति न की जाए, तो माना जाता है कि क़ब्ज़ा न्यायोचित ढंग से हो गया है। क़ब्ज़ा करने का यह भाषाई कर्मकांड क़ानूनन उस समय पूरा होता है, जब कोई इसका साक्षी हो, इसे लिखित रूप से रिकॉर्ड किया जा सके और विजेता द्वारा उसका नया नामकरण किया जाए। कोलम्बस ने यही किया। उसने अरावाकियनों के सामने खड़े हो कर गुआनाहीनी द्वीप पर स्पेन के राजा के क़ब्ज़े की घोषणा की। जब अरावाकियनों ने उसका विरोध नहीं किया, तो उसने अपने बेड़े के दो कप्तानों को साक्षी मान कर इस कर्मकांड को अपने रोजनामचे में दर्ज किया, और द्वीप का नाम सैन सल्वाडोर रख दिया। अरावाकियनों ने कोलम्बस की घोषणा का खंडन क्यों नहीं किया? इसलिए कि उन्हें समझ में ही नहीं आया कि जहाजों से उतर कर उनके तोहफ़े कबूल करने वाले ये युरोपियन बोल क्या रहे हैं। ज़ाहिरा तौर पर वे न केवल स्पेनी से अनजान थे, बल्कि वे उस दुनिया से भी पूरी तरह अपरिचित थे जहाँ से कोलम्बस आया था। उनकी ज्ञानमीमांसा कुछ और थी, उनका विमर्शी संसार कुछ और था। जहाँ तक कोलम्बस का सवाल था, उसे इसमें कोई दिलचस्पी नहीं थी कि अरावाकियन उसकी दावेदारी समझ रहे हैं या नहीं। उसके सामने दो विकल्प थे– अरावाकियनों द्वारा बोले गए कथनों को भाषा की मान्यता तो दे, लेकिन उसे अलग भाषा मानने से इंकार कर दे, या उनके कथन को भिन्न माने, लेकिन उसे भाषा का दर्जा न दे।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

नयी दुनिया पर स्पेनी उपनिवेशन थोपने की प्रक्रिया में कोलम्बस ज़रूरत के मुताबिक़ इस या उस रवैये को अपनाता रहा। कोलम्बस की दिलचस्पी केवल इस बात में थी कि स्पेन के राजदरबार में उसके द्वारा किये जा रहे क़ब्ज़े को वैध माना जाए। उसने सुनिश्चित किया कि उसके प्रत्येक कृत्य का साक्षी हो, और उसका लिखित रिकॉर्ड रखा जाए, ताकि सनद रहे और वक्त आने पर उसका इस्तेमाल किया जा सके। इस तरह कोलम्बस नये–नये द्वीपों पर कब्जा करता रहा, उनका नया नामकरण करता रहा, नदियों और पहाड़ों को नये नाम देता रहा। किसी जगह का नाम प्यूट्रो डि सेंटा मारिया रखा गया, कोई जगह कैबोडिला स्ट्रैला कही गई, और कोई कैबोडिसिनक्विन। आज इन जगहों को इन्हीं नामों से जाना जाता है। कोलम्बस के बाद इन द्वीपों पर अपने क़ब्ज़े को दीर्घजीवी करने के लिए स्पेनिश आर्माडा (नौसैनिक बेड़ा) और फ़ौज का आगमन हुआ। इस तरह लातिन अमेरिका को क्रमिक रूप से जीत कर न्यू स्पेन का अस्तित्व पड़ा। वहाँ रहने वालों को इंडियन कहा गया, उन्हें भी नये ईसाई नाम दिये गये (जैसे, डोना मारिना, जूलियन आदि) और उस पूरे द्वीप को अमेरिका का नाम दिया गया।

यह अलग बात है कि वहाँ के मूलवासी स्वयं को न इंडियन समझते थे, और न ही उनकी ऐसी कोई आत्मछवि थी कि वे अमेरिका के वासी हैं।[34] उपनिवेशवाद ने उनकी अपनी पहचान मिटा कर उन पर एक नयी पहचान मढ़ दी, जो पूरी तरह से उसकी अपनी कारिस्तानी थी। 1513 में सम्राट फ़र्डिनांड के आग्रह पर रिनैसाँज़ के मानववादी विद्वानों ने रिक्वायरिमेंटो की रचना की, ताकि देशज लोगों और उनके इलाक़े को जीतने के स्पेनिश अधिकार को वैधता दी जा सके। इसी के आधार पर पोप अलेक्जेंडर द्वितीय (जो स्वयं स्पेनिश थे) ने नयी दुनिया को ईसाई बना कर वहाँ के 'बर्बरों' को सुधारने का दायित्व स्पेन के राजा को प्रदान कर दिया। स्पेनी कोंक्विस्टाडोर राजा के नाम पर, राजा पोप के नाम पर और पोप ईश्वर के नाम पर उपनिवेशन की प्रक्रिया बेरोकटोक चलाते रहे। रिक्वायरिमेंटो की यह इबारत व्यक्तियों और समुदायों के सामने पढ़ी जाती थी, और जब कोई नहीं होता था तो पेड़ों और झोपड़ियों के सामने पढ़ी जाती थी, ताकि कोंक्विस्टाडोरों के सामने समर्पण करने और कैथॅलिक धर्म क़बूल करने से इनकार करने वालों के ख़िलाफ़ हिंसा को जायज ठहराया जा सके–

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

'आज्ञापालन न करने वाले, ईश्वर का संदेश ग्रहण करने से इनकार करने वाले और उसका विरोध या खंडन करने वाले ताबेदारों के तौर पर तुम्हारी पत्नियों और तुम्हारे बच्चों को हम छीन लेंगे, उन्हें दास बनाएँगे, और अपने महामहिम की इच्छा और आदेश के मुताबिक़ उन्हें बेच देंगे या निबटा देंगे, तुम्हारी सम्पत्तियों को छीन लेंगे, और तुम पर हर तरह का नुकसान और बरबादी बरपा करेंगे।' 1573 तक स्पेन ने नये नामकरण की प्रक्रिया को फ़ौजी कब्जे के समकक्ष मानने के क़ानून का स्पेनीकरण कर दिया। इसी प्रक्रिया को अपना कर स्पेन ने अपने साम्राज्य का विस्तार करना जारी रखा।

इस तरह स्पेनी भाषा और रोमन क़ानून के जरिये कोलम्बस, जो फ़ौजी प्रकृति का खोजी जहाजी था, ने उपनिवेशवाद, भाषा और ईसायत का समीकरण स्थापित किया। इस तितरफ़ा समीकरण में भाषा का घटक आवश्यकतानुसार परिवर्तनशील था। इस पहलू को इस भाषा और साम्राज्य के आपसी संबंधों को पहले मॉडल के तीसरे पक्ष के तौर पर देखा जाना चाहिए। यह तीसरा पक्ष था 'कोंक्विस्टा पेसिफ़िका' यानी फ़ौजी जीत के बाद कैथॅलिक पादरियों के नेतृत्व में होने वाली विजय। उपनिवेशन का यह हथियार भाषा और ईसाइयत को आपस में गूँथ कर गढ़ा गया था। यह तीन चरणों में विकसित हुआ। पहले चरण में स्पेनी साम्राज्य ने अमेरिकी उपनिवेशों में अपनी भाषा थोपने की नीति बनाई। इस दौरान कैस्टीलियन की शिक्षा और कैथॅलिक मज़हब कबूल करना एक–दूसरे के पर्याय बन गए। सोलहवीं सदी में सम्राट कार्लोस पंचम और फिर फ़िलिप द्वितीय ने स्थानीय भाषाओं का वजूद केवल संक्रमणकालीन माना। उनकी मान्यता थी कि इन भाषाओं की संरचना ईसाई धर्म और पश्चिमी संस्कृति को अभिव्यक्त करने लायक नहीं है। लेकिन 1565 तक उपनिवेशवादियों की समझ में आ गया कि सारे इंडियनों को कैस्टीलियन पढ़ाना व्यावहारिक रूप से नामुमकिन है। इसलिए दूसरे चरण में उपनिवेशकों को ईसाइयत के प्रचार में लगे मिशनरियों (फ़्रियर्स) के इस आग्रह की रणनीतिक अहमियत समझ में आ गई कि गॉस्पल के प्रचार–प्रसार के लिए स्थानीय भाषाओं का भी इस्तेमाल किया जाना चाहिए। दरअसल, एकभाषिता थोपने की तमाम राजाज्ञाओं और कोशिशों के बावजूद स्पेनी अट्ठारहवीं सदी से पहले इस स्थिति में नहीं पहुँच पायी कि शासन और सरकार की एकमात्र भाषा की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

भूमिका निभा सकती। जब कार्लोस तृतीय ने यह सुनिश्चित कर लिया कि स्पेनी प्रत्येक नागरिक की पहली या दूसरी भाषा बन चुकी है, तभी उन्होंने तीसरे चरण में अपने उपनिवेशों में भी इसे आरोपित करने का फैसला किया।

स्पेनी आधारित एकभाषिता का आग्रह इतना प्रबल और प्रभावी साबित हुआ कि उसने पूरे लातिन अमेरिका में उन्नीसवीं सदी के दौरान समरूप, एकभाषी और एक संस्कृति वाले राष्ट्र–राज्यों की रचना में प्रमुख भूमिका निभाई। स्पेनी और लातिन अमेरिका के इस संबंध से इशारा मिलता है कि सैनिक जीतों पर आधारित साम्राज्य को पराजित करना अपेक्षाकृत आसान है, लेकिन भाषाई साम्राज्य को नहीं। हम जानते हैं कि लातिन अमेरिकी राष्ट्रवाद का उभार फ़्रांसीसी क्रांति के आलोक में हुआ था, लेकिन स्पेनी उपनिवेशवाद विरोधी गोलबंदी में स्पेनी भाषा का ही इस्तेमाल किया गया। स्पेनी उपनिवेशवाद के ख़िलाफ़ हुए स्वातंत्र्य युद्धों से उभरे नये नेतृत्व ने स्पेनी भाषा अपनाने के लिए दो तरह की रणनीतियाँ अपनाईं। पहली नीति थी, स्पेनी संस्कृति में पूरी तरह से आत्मसातीकरण करने की। इसकी कीमत देशज आबादी की भाषाओं को चुकानी पड़ी। दूसरी नीति एकभाषी राष्ट्र की रचना करते हुए भी स्थानीय भाषाओं को बचा कर रखने की थी। इस रणनीति के तहत इन स्थानीय भाषाओं को मातहत दर्जा मिलना था। पहली नीति मोटे तौर पर सभी जगह अपनायी गयी, और दूसरी का इस्तेमाल यदा–कदा हुआ। हिस्पानिक अमेरिका की भाषा बनने के बाद स्पेनी को कैस्टीलियन की व्याकरण संहिता से छुटकारा दिलाने का सिलसिला भी शुरू हुआ। नव–स्वतंत्र देशों ने एक के बाद एक तय किया कि वे स्पेनी का अपना संस्करण ही चलाएँगे। बीसवीं सदी तक आते–आते यह प्रक्रिया और पुष्ट हो गई, और लातिनी अमेरिका की अपनी भाषाएँ अंतिम रूप से स्पेनी और उसके नये स्थानीय रूपों का ग्रास बन गईं। स्पेन का साम्राज्य चला गया, लेकिन स्पेनी का साम्राज्य दक्षिण अमेरिका के देशों में हमेशा के लिए क़ायम हो गया।[35] यह भाषाई उपनिवेशन के वर्नाक्युलर मॉडल की पहली आहट थी।

यहाँ सवाल पूछा जा सकता है कि भाषा और उपनिवेशवाद के पहले स्पेन प्रदत्त मॉडल से अन्य उपनिवेशवादियों ने क्या–क्या सीखा? औपनिवेशिक प्रभुत्व की होड़ में फ़्रांस और इंग्लैंड ने कुछ बाद में पदार्पण किया। स्पेनी उपनिवेश के प्रति फ़्रांस और इंग्लैंड का रवैया अंतर्विरोधी था।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इन दोनों के पास स्पेनियों से सीखने का पूरा मौक़ा था, लेकिन ख़ुद को बेहतर बताने के लिए वे स्पेन को नयी दुनिया की खोज करने वाले पहले युरोपियन देश का श्रेय देने के बारे में दुविधाग्रस्त रहते थे। इस दौरान आपसी युद्ध और रक्तपात के कारण स्पेन विरोधी साहित्य भी ख़ूब रचा गया। लेकिन, लाख छिपाने के बावजूद स्पेन के प्रति उनका प्रशंसाभाव पूरी तरह से नहीं छिप पाया। मसलन, अंग्रेज़ी में उन स्पेनी लेखकों की रचनाओं का ही ज्यादा अनुवाद हुआ, जिनमें स्पेन के औपनिवेशिक पराक्रम की विरुदावलि गाई गई थी। अमेरइंडियनों को दास बनाने की आलोचना करने वाले लास कासास के साहित्य को अंग्रेजों की तरफ़ से बहुत दिनों तक नजर अंदाज़ किया जाता रहा। 1566 से ही ब्रिटिश नेवीगेटरों और नाविकों के लिए कोलम्बस ने एक मॉडल की भूमिका निभाई। स्पेनी नाविकों और उपनिवेशकों का वर्णन अंग्रेजी साहित्य में हमेशा ही रोमांस और पराक्रम के लहजे में किया गया।[36] जाहिर है कि ब्रिटिश और फ़्रेंच उपनिवेशकों को स्पेनियों से बहुत कुछ सीखना था। सीखने की इसी प्रक्रिया से भाषा के उपनिवेशीकरण का कार्यकारी मॉडल निकला। मैंने जिसे पहली श्रेणी के कार्यकारी मॉडल के रूप में नीचे सूत्रीकृत किया है, उसी का नामकरण वर्नाक्युलर मॉडल या देशभाषा प्रारूप के तौर पर किया गया है।

V

भाषाई उपनिवेशन के तीन मॉडल और सांस्कृतिक बिचौलियों का उत्पादन

ब्रिटेन और फ़्रांस के भाषाई साम्राज्यों ने भाषाई उपनिवेशन के जिन प्रारूपों का इस्तेमाल किया, वे स्पेनिश और पुर्तगाली उपनिवेशवादों द्वारा आजमाये गए तीन प्रारूपों से प्रेरित थे। इनमें पहला है– वर्नाक्युलर मॉडल, दूसरा है– मेट्रोपोलिटन मॉडल, और तीसरा है– उपनिवेशित समाज में सर्वाधिक बरती जाने वाली भाषा (लेंग्वेज ऑफ़ वायडर कम्युनिकेशन) का औपनिवेशिक संस्करण तैयार करने वाला मॉडल। यह तीसरा प्रारूप अपनी विशिष्टता के लिए अध्ययन–योग्य तो है, पर वह भाषाई उपनिवेशवाद का एक छोटा और अपवादस्वरूप हिस्सा ही है। जो भी हो, इन तीनों प्रारूपों में एक बेहद महत्त्वपूर्ण पहलू समान रहा है। यह है भाषा और शिक्षा के औज़ारों से उपनिवेशों में सांस्कृतिक बिचौलियों का उत्पादन करने का लक्ष्य। इसके लिए जरूरी था कि एक ऐसी आत्मनिष्ठता रची जाती जो या तो पारम्परिक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

आत्मनिष्ठता को पूरी तरह से प्रतिस्थापित कर देती, और अगर ऐसा न कर पाती तो कम से कम उसके ऊपर अपना प्रभुत्व कायम कर लेती।

मार्टिन हाइडेगर (1889–1976) ने कहा था कि एक पूरी तरह से मुक़म्मल आत्मनिष्ठता पैदा करना आधुनिकता की केंद्रीय उपलब्धि है।" हाइडेगर ने यह अवलोकन युरोप को ध्यान में रख कर किया होगा। सवाल यह है कि क्या यह मुक़म्मल आत्मनिष्ठता ग़ैर–युरोपीय उपनिवेशितों को भी उपलब्ध हो सकती थी? इस सवाल का जवाब पाने के लिए हमें आत्मनिष्ठता गढ़ने की उन बौद्धिक प्रौद्योगिकियों पर ग़ौर करना होगा जो सत्रहवीं सदी से ही युरोपीय ज्ञानमीमांसा की फ़ैक्ट्री में तैयार की जाती रही हैं। युरोपीय विद्वत्ता प्रबोधनकाल से ही मनुष्य के आत्म को संशोधित करने या पूरी तरह से बदल डालने के उद्यम में लगी रही है। पश्चिम ने व्यक्ति और समाज के पारम्परिक आत्म को हटा कर उसकी जगह एक नया आत्म स्थापित करने के लिए भाषा, साहित्य और ज्ञान को एक औज़ार की तरह साधने की कोशिश की है। वाल्टर मिन्योलो द्वारा फ़्रांसिस बेकन के मंसूबों की व्याख्या के जरिये इंगित किया गया है कि युरोपीय विद्वत्ता आत्म को बदल डालने की परियोजना को बाक़ायदा एक वैज्ञानिक उद्यम की तरह देखती रही है। यहाँ मिन्योलो की व्याख्या का उल्लेख करना जरूरी है।

मिन्योलो के अनुसार मनुष्य की आत्मा के जिस बड़े हिस्से (मज़हब और ईश्वर के साथ जुड़े हुए एक छोटे से हिस्से को छोड़ कर) के साथ बेकन वैज्ञानिक प्रयोग करने के हिमायती थे। यह बड़ा हिस्सा उनके लिहाज़ से स्मृति, कल्पना और विवेक के तीन आयामों में बँटा हुआ था। हर पहलू का ज्ञान के एक प्रमुख अनुशासन से सीधा मेल था। बेकन के अनुसार स्मृति से इतिहास फूटता है, कल्पना से कविता और विवेक से दर्शन। इस अवलोकन से तात्पर्य यह निकलता है कि बेकन के अनुसार इतिहास, कविता और दर्शन का उपकरण के तौर पर नियोजित इस्तेमाल करके मनुष्य के आत्म को मर्ज़ी के मुताबिक़ संशोधित किया जा सकता है। फिर एक लम्बी अवधि के दौरान क़ब्ज़े और नियंत्रण के जरिये उसे एक नया आत्म दिया जा सकता है। थामस हॉब्स के भाषा संबंधी विचारों की चर्चा करते हुए आत्म की रचना में भाषा की भूमिका को रेखांकित किया जा सकता है। हॉब्स की मान्यता थी कि मनुष्य अपने से अधिक शक्तिशाली, तेज और सक्षम जीवों से अधिक प्रभावशाली और ख़तरनाक इसीलिए बन पाया

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कि वह भाषा की रचना कर सका। भाषा के ज़रिये मनुष्य ने चिह्नों का प्रयोग करके अपनी स्मृति का विस्तार किया, और इस तरह अतीत और भविष्य दोनों को ही संभव बना दिया। नतीजतन, उसे आत्मचेतना प्राप्त हो सकी, जिसने उसे अपने हित के प्रति सतर्क किया।

उपनिवेशन (आंतरिक हो या बाह्य) के संदर्भ में बेकन और हॉब्स के इन विचारों की जाँच करने पर उनकी अनुप्रयुक्तता (एप्लायडनैस) के एक भिन्न पहलू पर रोशनी पड़ती है। उपनिवेशितों के ऊपर जैसे ही आत्म को संशोधित या बदलने की यह प्रौद्योगिकी इस्तेमाल की जाती है, ज्ञान और संस्कृति के क्षेत्र में एक बिचौलिये वर्ग की रचना होने लगती है। इस बिचौलिये वर्ग को बहुत पहले पुनर्जागरणकाल में ही कल्पित कर लिया गया था। युरोपीय पुनर्जागरण के प्रमुख राजनीतिक सिद्धांतकार निकोलो मैकियावेली (1469–1527) ने अपनी तीनों रचनाओं द प्रिंस, डिस्कोर्सी और हिस्ट्री ऑफ़ फ़्लोरेंस में रोमन शैली का उपनिवेशन करने की संस्तुति की है। डिस्कोर्सी में मैकियावेली ने जानकारी दी है कि किसी मुल्क को जीतने के बाद रोमन वहाँ ऐसे लोगों (प्रशासकों–प्रबंधकों) को भेजते थे जो न केवल उस क्षेत्र को क़ाबू में रखते थे, बल्कि रोमन क़ानून और रिवाज़ों को भी लागू करते थे। इस प्रक्रिया में रोमन प्रशासक उपनिवेशितों के बीच से अपने प्रति निष्ठावान और रोमन तौर–तरीकों में दीक्षित लोगों का एक केंद्रीय समुदाय (यहाँ इन्हीं लोगों को सांस्कृतिक बिचौलियों की संज्ञा दी गई है) तैयार करते थे।[38] मैकियावेली से लेकर बेकन और हॉब्स तक के इस प्रकरण पर ग़ौर करने से स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रक्रिया में भाषा–साहित्य–दर्शन–ज्ञान की प्रौद्योगिकी का इस्तेमाल करके औपनिवेशिक महाप्रभु उपनिवेशितों के बीच अपने प्रति निष्ठावान और युरोपीय तौर–तरीकों में दीक्षित लोगों का एक सुगठित और केंद्रीकृत समुदाय तैयार करते रहे। इस तरह औपनिवेशिक आत्मनिष्ठता के ज़रिये सांस्कृतिक बिचौलियों को तैयार करने की पहली संस्तुतिपरक डिज़ाइन पुनर्जागरण काल में दरपेश हुई। यह डिज़ाइन आगे चल कर निरपवाद रूप से युरोपीय उपनिवेशवाद के लिए विधेयक बनती चली गई।

सांस्कृतिक बिचौलिये : यह अभिव्यक्ति मैंने जोसेफ़ एरिंगटन के विमर्श से प्राप्त की है। एरिंगटन का कहना है कि उपनिवेशन की प्रक्रिया में ऐसा मुक़ाम आता है, जब विदेशी हुकूमत की जड़ें मजबूत करने के लिए ऐसे

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

'कोलोनियल सब्जेक्ट्स' पैदा करने पड़ते हैं, जो पश्चिमी विद्या और राजकाज के तौर–तरीकों में एक सीमा तक पारंगत हों। औपनिवेशिक प्रजा की इस मलाईदार परत के सदस्य अपने श्वेत महाप्रभुओं द्वारा संचालित शोषण–यंत्र में पहिये और दाँते की तरह लगे रहने के लिए तैयार किये जाते थे। उपनिवेशकों की प्रभुता के तले यह एक ऐसा वर्ग था जो उनके लिए अपने देशवासियों पर प्रभुता कायम करता था। एरिंगटन ने इन्हें 'सबालटर्न इलीट' की संज्ञा देते हुए कहा है कि इनकी स्थिति 'इंटरस्टीशियल' (अंतरालीय या बीच की जगह में स्थित) थी।

मेरा विचार है कि इन्हें सबालटर्न कहना उचित नहीं है, क्योंकि ये वास्तविक विद्रोह की 'एजेंसी' से वंचित थे। इसीलिए, उपनिवेशवाद ने इन्हें 'सब्जेक्ट' बनाकर अपनी निरंतरता सुनिश्चित करने की ज़िम्मेदारी सौंपी थी। यह वर्ग ज्यादा से ज्यादा पश्चिमी ज्ञानमीमांसा और राज्य–प्रणाली की संहिताओं द्वारा थमाई गई बग़ावत (उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रवाद) का वाहक ही हो सकता था। अधीनस्थ प्रजा और युरोपीय महाप्रभुओं के बीच पुल का काम करने वाला यह वर्ग अगर न होता तो केवल साठ–पैंसठ हज़ार अंग्रेज तीस करोड़ भारतवासियों पर शासन न कर पाते। इसी वर्ग की मदद से नीदरलैंड्स से आए सिर्फ़ तीस हजार युरोपियनों ने डच ईस्ट इंडिया के तहत सात करोड़ एशियाइयों पर हुकूमत की। 1916 में जिस समय उपनिवेशों के लिए गठित बेल्जियम का मंत्रालय कोंगो के प्रशासन को काली चमड़ी के क्लर्कों और कर्मचारियों का वर्ग खड़ा करने का कार्यभार थमा रहा था, उससे तकरीबन सौ साल पहले मैकॉले द्वारा भारत में त्वचा के रंग से भारतीय, लेकिन सोच–विचार में अंग्रेज़परस्त भारतवासियों के विशाल वर्ग की पैदाइश की योजना घोषित की जा चुकी थी। लेकिन, क्या इनकी स्थिति को 'इंटरस्टीशियल' भी कहा जा सकता है? यहाँ मैं एरिंगटन के अवलोकन से सहमत हूँ। यह अंतरालीय या उपनिवेशकों और उपनिवेशितों के मध्य स्थित बिचौलिया वर्ग ही था। इसका काम था शैक्षिक और भाषिक प्रौद्योगिकी के जरिये अपने महाप्रभुओं द्वारा थमाये गये 'युरोप' को स्थानीय समाज की सांस्कृतिक रगों में प्रवाहित करना। इस लिहाज से इसे सांस्कृतिक बिचौलिया मानने में हमें कोई दिक्कत नहीं होनी चाहिए।

उपनिवेशवादियों द्वारा युरोपीय भाषाओं और पश्चिमी सामाजिक सिद्धांत में दिये गए प्रशिक्षण के परिणामस्वरूप इन बिचौलियों के मानस को औपनिवेशिक श्रेष्ठता का अनुगामी होना था। इनकी शुरुआती पीढ़ियों को

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अपने देशज अतीत के प्रति द्वैधग्रस्त रहना था। परवर्ती पीढ़ियों को अपने इतिहास के विभिन्न आयामों के प्रति कभी मौन और कभी मुखर आत्मघृणा से अभिशप्त रहना था। इस शापित स्थिति के कारण होने वाला अंतहीन आत्म–उत्पीड़न धीरे–धीरे इस वर्ग की चालक–शक्ति बनता चला गया। एशिया और अफ़्रीका का अनुभव बताता है कि औपनिवेशिक भाषाशास्त्रियों द्वारा तैयार की गई डिज़ाइन के मुताबिक़ काम करते हुए इस बिचौलिया वर्ग ने दुनिया के विभिन्न क्षेत्रों में युरोपीय भाषाओं और स्थानीय भाषाओं के बीच डायग्लॉसिक संबंधों की रचना की, और उन्हें लगातार बढ़ावा दिया। हम आगे चल कर देखेंगे कि यह वर्ग एक ऐसी द्विभाषिता और बहुभाषिता का एजेंट साबित हुआ जो युरोपीय प्रभु भाषाओं की नज़दीकी देख–रेख में संसाधित होती रही। दरअसल, यह कहने के लिए ही बहुभाषिता थी। शुरू में लगता था कि युरोपीय प्रभु भाषाएँ अपने नियंत्रणकारी लेकिन सीमित दायरों में ही बनी रहेंगी, और स्थानीय भाषाएँ धीरे–धीरे उनकी मातहती की संरचनाओं से परे विकसित होती चली जाएँगी। लेकिन यह धारणा एक भ्रम साबित हुई, एक ऐसा भ्रम जो उपनिवेशवाद की भाषाई विचारधारा के समझौताहीन किरदार को न समझ पाने के कारण बना था। आज भूमंडलीकरण के युग में राष्ट्रीय सांस्कृतिक सीमाओं के परस्परव्यापी होते चले जाने की स्थिति में भाषाई उपनिवेशन अपने नये और अधिक आक्रांता रूपों में सामने आ रहा है। द्वितीय विश्व–युद्ध के बाद हुए घटना–क्रम का लाभ जिस युरोपीय भाषा को जितना मिला, वह उसी के मुताबिक़ अपने अलौकिक साम्राज्यों को पुष्ट करने में लगी हुई है। इन नयी परिस्थितियों का सर्वाधिक लाभ निर्विवाद रूप से अंग्रेजी के हिस्से में आया है। परिणामस्वरूप जो भाषा दक्षिण एशिया और अपने पूर्व–उपनिवेशों में अभिजन–उपभोग तक सीमित थी, आज विभिन्न युक्तियाँ अपनाते हुए 'लिंगुआ फ़्रांका' या जनभाषा बनने के अभियान पर निकल चुकी है।

वर्नाक्युलर मॉडल : स्पेन के तजरुबे से उपनिवेशवादियों को पहला सबक यह मिला कि उपनिवेशितों की बहुभाषिता (अमेरिका में उपनिवेशन की शुरुआत के समय दो हजार भाषाएँ बोली–बरती जाती थीं) के ऊपर उपनिवेशक भाषा थोपने की सफल राजकीय प्रौद्योगिकी का मतलब केवल राजाज्ञाएँ जारी करना और स्थानीय भाषाओं का दमन करना ही नहीं है। ज़रूरी नहीं कि ऐसा करने के इच्छित परिणाम ही निकलें। स्पेनी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

उपनिवेशकों के साथ भी यही हुआ। उनके शुरुआती दमनकारी उत्साह पर जल्दी ही पानी फिर गया। उन्होंने देखा कि न तो इंजीली लक्ष्य पूरे हो पा रहे हैं, और न ही उनकी भाषा का कोई ख़ास प्रसार हो रहा है। उपनिवेशक दुविधा में पड़ गए। इससे उन्हें भाषा–विज्ञानियों (जिनमें ज्यादातर कैथॅलिक मिशनरी थे) ने उबारा। उन्होंने 493 भाषाओं को अपने अध्ययन के लिए चुना। इस प्रक्रिया में वहाँ पहले से मौजूद 'व्यापकतम प्रसार की कुछ भाषाएँ' प्रोत्साहन के लिए चुनी गईं। लातिन के नमूने पर उनके व्याकरण और शब्दकोश तैयार किये, ताकि अमेरइंडियनों के ईसाईकरण की प्रक्रिया तेज की जा सके। इसका यह मतलब कभी नहीं था कि इन मिशनरियों को स्थानीय भाषाओं से किसी भी तरह का प्रेम था। वे उन्हें लगातार घटिया और गॉस्पल के प्रचार–प्रसार के लिए अक्षम ही मानते रहे। उनकी निगाह में लातिन और स्पेनी ही सुपरिभाषित अर्थों में एक श्रेष्ठ भाषा और ईसाइयत के संदेश की उपर्युक्त वाहक थीं। इस परिस्थिति का कुल मिलाकर निष्कर्ष यह निकला कि पहले अपनी भाषा थोपने की जमीन तैयार करनी पड़ती है, और उसके लिए स्थानीय भाषाओं के अपने लिए उपयोगी संस्करण बनाने पड़ते हैं।

दूसरा सबक यह सीखा गया कि उपनिवेशकों के सांस्कृतिक और साभ्यतिक मानकों का पालन करने में गौरव का अनुभव करने वाले एक वर्ग को तैयार करना जरूरी है। स्पेनियों ने न केवल अमेरइंडियन समुदायों के मुखियाओं के संस्कृति–संक्रमण की योजनाबद्ध प्रक्रिया चलाई, बल्कि अपनी बेरहमी के लिए कुख्यात कोंक्विस्टाडोरों समेत अन्य स्पेनी उपनिवेशकों ने स्थानीय स्त्रियों से शादियाँ करके मैस्तिज़ो (मिश्रित नस्ल) बच्चों की एक पूरी पीढ़ी तैयार की। इनकी माताएँ अमेरइंडियन अवश्य थीं, लेकिन वे स्वयं स्पेनी आत्मछवि के धारक थे। स्पेनी संस्कृति के इन स्थानीय वाहकों के साथ जब आव्रजन के जरिये औपनिवेशिक केंद्र से सीधे आ रही युरोपीय आबादी जुड़ गई, तो स्पेनी का अधिकारपूर्वक इस्तेमाल करने वालों का यह समुदाय बड़ा व प्रभावी हो गया। उपनिवेशीकरण के लम्बे दौर में स्पेन से दक्षिण अमेरिका को होने वाला आव्रजन लगातार जारी रहा, और मैस्तिज़ो आबादी भी बढ़ती रही।

तीसरा सबक़ यह सीखा गया कि ईसाईकरण और बिचौलिया वर्ग तैयार करने की प्रक्रिया के साथ–साथ स्पेनी के बरक़्स स्थानीय भाषाओं के 'घटियापन' को लगातार रेखांकित करते रहना अनिवार्य है। यह प्रक्रिया

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

धीरे–धीरे एक ऐसे सिलसिले को जन्म देती है, जिसके तहत औपनिवेशिक समाज में युरोपीय शासकों के साथ सत्ता और सांस्कृतिक जीवन में सक्रिय भागीदारी करने की इच्छा अपनी संस्कृति के प्रति उपनिवेशितों की निष्ठा कमज़ोर कर देती है। वे आत्महीनता में जीने लगते हैं। यही होता है उपनिवेशकों की सांस्कृतिक विजय का क्षण। अमेरइंडियन लोगों को स्पेनियों ने पहले इसी तरीके उनकी अपनी भाषाओं से हटा कर क्रियोल और पिडगिन (खिचड़ी भाषा) तक पहुँचाया, और फिर उन्हें स्पेनी के रूप में उनकी मंजिल थमायी गयी। अंत में जब अमेरइंडियन उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन के लिए सक्षम हुए, उस समय तक उनके पास स्पेनी और उससे मिलने वाली ज्ञान की संरचनाओं के अलावा अपने अतीत से जुड़ा कोई जातीय और सांस्कृतिक विकल्प मौजूद नहीं रह गया था। नतीजतन, राजनीतिक सम्प्रभुता के लिहाज से स्पेन भले ही लातिनी अमेरिका छोड़कर चला गया हो, लेकिन उसकी भाषा का साम्राज्य स्थायी रूप से आज भी कायम है।

भाषा और उपनिवेशवाद के संबंधों के इस मॉडल का एक चौथा सबक़ भी है, जो पुर्तगाली उपनिवेशवाद पर नजर डालने से निकलता है। दरअसल, यह सबक़ दूसरे और तीसरे सबक़ के अंतर्निहित संदेश को और मजबूत करता है। यह संदेश है– उपनिवेशकों की भाषा और संस्कृति के प्रति समर्पित सांस्कृतिक बिचौलियों के उत्पादन की अनिवार्यता। स्पेन के साथ शुरू से ही प्रतियोगिता करने वाले पुर्तगाल को दरअसल युरोपीय उपनिवेशवाद के पुरोधा का दर्जा मिलना चाहिए। नयी दुनिया के तटों पर क़दम रखते ही वहाँ के स्थानीय वासियों का अपहरण करके उन्हें ग़ुलाम बनाने, ईसाई बनाने और दुभाषिया बनाने के लिए अपनी भाषा सिखाने का उद्यम कोलम्बस ने ही नहीं, पुर्तगालियों ने भी किया था। भले ही अध्येताओं द्वारा पुर्तगाली उपनिवेशवाद और स्पेनी उपनिवेशवाद की रणनीतियों के बीच अंतर चिह्नित किया गया हो, भाषाई आईने में देखने पर दोनों औपनिवेशिक सहोदर के रूप में निकल कर आते हैं।[39]

यह सबक़ पुर्तगालियों द्वारा किये गये ब्राज़ील के उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया से निकलता है। इस सबक़ के जरिये परवर्ती उपनिवेशवादियों ने एक बहुभाषी समाज पर चतुराई के साथ क्रमशः अपनी भाषा और संस्कृति थोपने की एक विशिष्ट रणनीति सीखी। इसके तहत स्थानीय भाषाओं की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

भूमिका को जारी रखा गया, और उसके समानान्तर औपनिवेशिक भाषा को केंद्रित करके एक ऐसे समुदाय के गठन की प्रक्रिया चलाई गई जो अति–अल्पसंख्यक होने के बावजूद विमर्शी स्तर पर वर्चस्वी हो। ब्राज़ील में पुर्तगाली उपनिवेशवाद के संदर्भ में यह लुसोफ़ोन समुदाय, अफ़्रीका में फ़्रेंच उपनिवेशवाद के संदर्भ में फ़्रांकोफोन और भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद के संदर्भ में यह एंग्लोफोन समुदाय था। इन समुदायों के इर्दगिर्द उपनिवेशवाद ने राजकीय आदेशों, सामाजिक–आर्थिक प्रगति संबंधी नीतियों और शिक्षा–प्रणाली के जटिल बंदोबस्त के माध्यम से सांस्कृतिक बिचौलियों का एक वर्ग तैयार किया। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, बिचौलियों के इस वर्ग को व्यापक जनता के लिए औपनिवेशिक संस्कृति, भाषा, ज्ञान और मूल्यों का वाहक बनना था। आगे चलकर बिचौलियों के एक हिस्से ने राष्ट्रवादी आंदोलनों का नेतृत्व करके उपनिवेशवाद के हाथ से राजनीतिक सम्प्रभुता छीनने में भी कामयाबी हासिल की, लेकिन अपनी देशज बहुभाषी परम्पराओं के ऊपर औपनिवेशिक भाषा के साम्राज्य को और भी अधिक सुनिश्चितता के साथ स्थापित किया।

ब्राज़ील पर पुर्तगाली हुकूमत के पहले डेढ़–दो सौ साल के दौरान ऐसा लगता रहा कि वहाँ अमेरइंडियनों की या अफ़्रीकियों की कोई भाषा (जैसे, ट्युपी, क्विरिरी, बांटू, पॉलिस्टा, न्हीनगाटु और कोस्टाल) प्रभुत्व की स्थिति प्राप्त कर लेगी। इसकी वजह यह थी कि पुर्तगाली भाषा की स्थिति बहुभाषी नजारे में स्थानीय भाषाओं के साथ सह–अस्तित्व की थी। कैथॅलिक मिशनरी स्थानीय भाषाओं में ही धर्मपरिवर्तन की नीति को प्राथमिकता देते थे। इस दौरान उपनिवेशवादियों को लगता था कि अगर उन्होंने अपनी भाषा थोपने की नीतियाँ अपनायीं तो वे न तो ब्राज़ीली समाज का कैथॅलकीकरण कर पाएँगे, और न ही उनके वाणिज्यिक उद्देश्यों की ठीक से पूर्ति हो पाएगी। आगे चल कर उपनिवेशवादियों को जब लगा कि ब्राज़ील में ईसाईकरण और औपनिवेशिक आधुनिकीकरण का एक वांछित स्तर कमोबेश उपलब्ध कर लिया गया है, तो उन्होंने रंग बदला। पुर्तगीज़ भाषा को केंद्र बना कर राज्य का भाषाई सुसंगतीकरण शुरू कर दिया गया। 1759 में पुर्तगाली को राजभाषा घोषित किया गया। 1767 में जिसूट पादरियों (क्योंकि वे ईसाईकरण के लिए स्थानीय भाषाओं को बरतने का आग्रह कर रहे थे) को निष्कासित करने के बाद स्थानीय भाषाओं पर पाबंदियों का सिलसिला प्रारम्भ हुआ। सोलहवीं से उन्नीसवीं सदी आते–

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

आते पुर्तगाली भाषा सांस्कृतिक श्रेष्ठता और सामाजिक–आर्थिक प्रगति के वाहक के तौर पर मान्यता प्राप्त कर चुकी थी। अल्पसंख्यक, परन्तु विमर्शी स्तर पर वर्चस्वी, लुसोफ़ोन समुदाय की सदस्यता प्राप्त करने के लिए प्रगतिकांक्षी ब्राजीलियों में होड़ लग गई। इस प्रक्रिया ने बहुत बड़ी संख्या में सांस्कृतिक बिचौलिये पैदा किए, जिन्होंने ब्राज़ीली अस्मिता को पूरी तरह और आख़िरी तौर से बदलने में प्रमुख भूमिका का निर्वाह किया। नतीजे के तौर पर लातिनी अमेरिका के सबसे विशाल देश की आबादी का नब्बे फ़ीसदी से ज्यादा हिस्सा आज पुर्तगाली भाषी हो चुका है। बहुभाषिता पर एकभाषिता की अंतिम विजय का यह उदाहरण विशेष रूप से अध्ययन का विषय है।[40] स्थानीय भाषाओं को नियोजित प्रोत्साहन देकर बहुभाषिता को समाप्त करने और एकभाषिता स्थापित करने का यही मॉडल स्पेन ने दक्षिण अमेरिका में अपनाया था। पुर्तगाली उपनिवेशवाद का ब्राज़ीली अनुभव भी वर्नाक्युलर मॉडल का ही उदाहरण था।

● **मेट्रोपोलिटन मॉडल :** ध्यान देने की बात यह है कि अपने जिस उपनिवेश में पुर्तगाल ने ब्राज़ील वाली लचीली नीति न अपनाकर सीधे–सीधे अपनी भाषा थोपने अथवा मेट्रोपॉलिटन मॉडल वाली रणनीति अपनायी, वहाँ उसकी राजनीतिक सत्ता ख़त्म होने के साथ–साथ पुर्तगाली भाषा का प्रभाव भी समाप्त हो गया। पुर्तगाल के सबसे पुराने एशियायी उपनिवेश गोवा (कोंकणी में गोंय) का उदाहरण इस संबंध में द्रष्टव्य है। 1517 से ईसाई मिशनरियों ने कोंकणी और मराठी सीखते हुए उनका इस्तेमाल करके गोवा में अपना मज़हब फैलाने की मुहिम चलानी शुरू की। उन्हें शुरुआती कामयाबियाँ भी मिलीं। लेकिन, डेढ़ सौ साल के भीतर–भीतर उपनिवेशवादियों का धैर्य चुक गया, और 1684 से ही पुर्तगालियों ने गोवा में स्थानीय भाषाओं के इस्ते माल के जरिये अपने प्रभुत्व की निरंतरता कायम करने की नीति छोड़कर पुर्तगाली को राजाज्ञा के जरिये थोपना शुरू किया। कोंकणी और मराठी को शिक्षा–प्रणाली से पूरी तरह से बाहर कर दिया गया। इसके बाद पुर्तगालियों ने अपनी इस नीति में कभी संशोधन नहीं किया, बावजूद इसके कि उनकी तमाम कोशिशों के बाद भी गोवा में पुर्तगाली बोलने वालों की संख्या कभी पाँच फ़ीसदी से ज्यादा नहीं हुई। पुर्तगाली राज्य, चर्च, वाणिज्य और उच्च वर्ग के बीच सामाजिक संवाद की भाषा तो बन गई, लेकिन गोवावासियों को पुर्तगाली सीखने में होने वाली

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

दिक़्क़तों के चलते इस उपनिवेश की साक्षरता 1881 में 10.91 प्रतिशत से बढ़कर 1960 तक केवल 31.23 प्रतिशत ही हो पाई। इन साक्षरों में भी ऐसे लोगों की संख्या अच्छी ख़ासी थी जो पुर्तगाली में केवल अपने दस्तख़त ही कर पाते थे। वस्तुस्थिति यह थी कि साढ़े चार सौ साल के पुर्तगाली शासन में दो फ़ीसदी से भी ज्यादा गोवावासी पुर्तगाली को मातृभाषा के रूप में स्वीकार नहीं कर पाए थे। केवल पाँच फ़ीसदी गोवावासी ही ऐसे थे, जो पुर्तगाली लिख, पढ़ और बोल सकते थे।[41] यह देख कर ताज्जुब नहीं होता कि ऐसी स्थिति में गोवा को 'रोम ऑफ ईस्ट' मानने वाले पुर्तगालियों के सत्ता छोड़ने के साथ ही उनकी भाषा का भविष्य भी पूरी तरह अंधकारमय हो गया। दरअसल, पुर्तगालियों की जल्दबाज़ी का फ़ायदा अंग्रेजी को मिला, जिसका रुतबा बगल के बम्बई और बाक़ी पश्चिमी भारत में अंग्रेजों द्वारा अधिक चतुराई के साथ वर्नाक्युलर मॉडल के जरिये लागू किया जा रहा था। गोवा में भाषाई उपनिवेशन का यह विफल प्रयोग सीधे तौर पर मेट्रोपोलिटन मॉडल की सीमाओं को उजागर करता है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या पुर्तगालियों को ब्राज़ील वाली स्थिति में आने के लिए गोवा में और इंतज़ार करना चाहिए था? ईसाईकरण और औपनिवेशिक आधुनिकीकरण का जो स्तर उन्होंने ब्राज़ील में प्राप्त करने के बाद अपनी भाषा थोपने की शुरुआत की थी, क्या वह स्तर उन्हें गोवा में आसानी से मिल सकता था? इस प्रश्न का उत्तर गोवा और ब्राज़ील की प्राक्–औपनिवेशिक स्थितियों के बीच अंतर में निहित है। पुर्तगालियों ने जिस गोवा के समाज पर क़ब्ज़ा किया था, वह निरक्षर समाज नहीं था। उस समाज के पास संस्कृत, मराठी और कोंकणी में साहित्यिक–बौद्धिक और धार्मिक चेतना का एक सुपरिभाषित स्तर था। साथ ही हर गाँव में कम से कम एक स्कूल वाली सुस्थापित और बहुप्रसारित शिक्षा–व्यवस्था थी।[42] ऐसे समाज के भाषाई उपनिवेशन के लिए पुर्तगालियों ने जो धैर्य प्रदर्शित किया, वह जरूरत से बहुत कम साबित हुआ।

अफ़्रीका में फैले हुए अपने विशाल साम्राज्य में फ़्रांसीसियों ने वही नीति अपनायी जो स्पेन ने उपनिवेशन के शुरुआती दौर में अपनायी थी। स्पेन ने अपने इस दौर की विफलताओं के बाद इस नीति में संशोधन किया था, और अपनी भाषा थोपने के समानान्तर स्थानीय भाषाओं के इस्तेमाल (इनमें पादरियों द्वारा इन भाषाओं के व्याकरण और शब्दकोश लिखकर इन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

भाषाओं की संरचना बदलने का उद्यम भी अनिवार्यतः शामिल था) के जरिये उपनिवेशन को सुदृढ़ करने की नीति अख़्तियार की थी। लेकिन फ़्रांस ने ऐसा नहीं किया। वह मेट्रोपोलिटन मॉडल का प्रतिबद्ध अभ्यासकर्ता साबित हुआ। फ़्रेंच भाषा के अकेले इस्तेमाल को थोपने और स्थानीय भाषाओं को हतोत्साहित करने की कठोर नीति पर चलते हुए उसने आखिर तक उसमें संशोधन नहीं किया। फ़्रांसीसी प्रत्यक्ष शासन पर विश्वास करते थे। उनकी नीति फ्रांसीसी अस्मिता में उपनिवेशों की अस्मिता के पूरी तरह समा जाने के प्रबल आग्रह पर आधारित थी।

फ्रांसीसियों के इस कट्टर भाषाई रवैये को समझने के लिए उसके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य पर भी नजर डालनी होगी। मसलन, युरोप के सर्वाधिक सघन आबादी वाले विशाल देश के रूप फ़्रांस ने कृषि के जरिये कमाई गई जबरदस्त समृद्धि से बारहवीं सदी में ही प्रमुख स्थिति प्राप्त कर ली थी। सत्रहवीं से अठारहवीं सदी के बीच में जब फ़्रांस युरोप में अपनी सत्ता और प्रभाव के शिखर पर था, तो उसकी मान्यता थी कि उसकी हस्ती में दूसरों से जो अलग बात है उसका एक प्रमुख घटक उसकी भाषा भी है। लुई अष्टम के प्रधानमंत्री कार्डिनल रिशेली द्वारा 1635 में गठित अकादेमी फ़्रांस्वा की भूमिका की चर्चा पीछे की जा चुकी है। फ़्रांसीसी अख़बारों में नियमित रूप से सही व्याकरण–सम्मत फ़्रेंच लिखने और बोलने की शिक्षा देने वाले नियमित स्तम्भ छपते थे। फ़्रेंच की प्रतिष्ठा का आलम यह था कि दर्शन के समझे जाने वाले रेने देकार्त ने अपनी रचना *'डिस्कोर्स ऑन मैथॅड'* लातिन के बजाय फ़्रेंच में लिखी, बावजूद इसके कि उन्होंने अपने बौद्धिक रूप से सक्रिय जीवन के बीस से अधिक साल हालैंड में बिताये और उन्हें 'डच गोल्डन एज' का प्रतीक माना जाता था। देकार्त के उत्तराधिकारी गोटफ़्रीड विल्हेल्म लीबनिज़ (1646–1716) जर्मनभाषी थे, पर उन्होंने अपनी प्रमुख रचनाएँ फ़्रेंच में ही लिखीं। इस दौरान फ़्रेंच की प्रतिष्ठा का आलम यह था कि लातिन की सभी प्रमुख रचनाएँ पहले फ़्रेंच में अनूदित होती थीं, और फिर उसी अनूदित पाठ से उनका भाषांतरण अंग्रेजी समेत अन्य युरोपीय भाषाओं में किया जाता था। ध्यान रहे कि जर्मनभाषी हर्डर ने अपनी भाषा संबंधी थीसिस जिस प्रश्न के उत्तर में तैयार की थी, वह उनसे फ़्रेंच में ही पूछा गया था। फ़्रेंच की आत्मछवि यह थी कि वह तत्कालीन युग की लातिन है। राजनय की भाषा के रूप में लातिन की जगह फ़्रेंच ने ही ली थी। देश कोई

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

भी हो, युरोप में अंतर्राष्ट्रीय संधियाँ फ्रेंच में ही लिखी जाती थी। सोलहवीं सदी में लूथर के सुधारों से अप्रभावित रहा फ्रांस अविचल रूप से कैथॅलिक बना रहा। लेकिन जिन फ्रेंचभाषियों ने प्रोटेस्टेंट ईसाइयत अपनायी, वे जब फ्रांस की सीमाएँ छोड़कर डच और जर्मन भूमियों पर गए, तो वहाँ भी फ्रेंच में होने वाले प्रकाशनों की बहुतायत हो गई। इस लिहाज़ से ईसाई धर्मसुधारों का भी फ्रेंच भाषा को लाभ हुआ। फ्रांसीसी क्रांति के समय तक अपनी भाषा के बारे में फ्रांसीसी निस्संदेह रूप से मानने लगे थे कि लातिन के बाद केवल उनकी ही भाषा बुद्धि और ज्ञान की वाहक होने के साथ–साथ सार्वभौम सभ्यता की वाहक हो सकती है।[43]

● **स्थानीय भाषा के जरिये उपनिवेशन का मॉडल** : जिस तीसरे मॉडल की प्रस्तुति यहाँ की जा रही है, उसके तहत किसी व्यापकतम प्रसार वाली स्थानीय भाषा को चुनकर भाषाई उपनिवेशन की रणनीतियाँ आजमाई जाती रही हैं। इसके उदाहरण के तौर पर अफ्रीका में बेल्जियम के उपनिवेश कांगो में स्वाहिली[44] और एशिया में डच ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा बहासा इंडोनेशिया[45] और बहासा मलेशिया[46] की औपनिवेशिक गढ़ंत की चर्चा की जा सकती है। ब्रिटिश और फ्रांसीसी उपनिवेशवादियों ने जो काम अंग्रे और फ्रेंच के जरिये किया, वही काम इन देशों में औपनिवेशिक स्वार्थ के लिए गढ़ी गई देशभाषाओं के जरिये अंजाम दिया गया। अंग्रेजी और फ्रेंच की ही तरह उपनिवेशक इन भाषाओं को साभ्यतिक मिशन का वाहक बनाना चाहते थे। ये भाषाएँ उनके लिए साम्राज्यिक ज्ञान और शासन के उपकरण की तरह थीं। ऐसी भाषाओं को कई नाम दिये गए हैं। जैसे, 'वेहीकुलर लेंग्वेजिज़', 'लेंग्वेज ऑफ़ यूनिटी' या 'लेंग्वेज ऑफ़ वायडर कम्युनिकेशन'। ध्यान रहे कि ये श्रेणियाँ देशभाषा मॉडल में भी इस्तेमाल की जाती रही हैं, लेकिन वहाँ इनका इस्तेमाल युरोपीय भाषा थोपने का रास्ता साफ़ करने के लिए होते हुए दिखता है। लेकिन, तीसरे मॉडल में इन गढ़ी गई भाषाओं के कारण उपनिवेशवादियों को अपनी युरोपीय भाषा थोपने की ज़रूरत ही नहीं पड़ती।

बेल्जियम उपनिवेशवादियों की जमात में काफ़ी देर से शामिल हुआ।[47] लेकिन, डच उपनिवेशवाद सत्रहवीं सदी की शुरुआत से ही एशिया के उपनिवेशीकरण के मामले में फ्रांसीसियों और अंग्रेजों से प्रतियोगिता कर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

रहा था।[48] इस अंतर के बावजूद बेल्जियनों और डचों के बीच नये और पुराने का यह अंतर भाषा के संदर्भ में इतना प्रभावी नहीं था। दोनों ही के पास फ्रेंच और अंग्रेजी की तरह राष्ट्रवादी एकीकरण करने वाली प्रभावशाली भाषाएँ नहीं थीं। बेल्जियम में फ़्लेमिश बोली जाती थी। लेकिन राजनीतिक–आर्थिक रूप से हाशियाग्रस्त जातीय समुदाय की भाषा होने के कारण उसे बहुसंख्यक भाषा की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता था। नीदरलैंड्स की डच भाषा कई लहज़ों वाली ज़ुबानों में बोली जाती थी, जिस पर जर्मन का स्पष्ट प्रभाव था और आज भी है (कहते हैं कि जर्मन चबा कर बोलने से डच जैसी लगने लगती है)। डच ईस्ट इंडिया कम्पनी का सांगठनिक ढाँचा भी ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी से अलग तरह का था। उसके संचालन में नीदरलैंड्स वासियों के अलावा अन्य युरोपीय देशों के अधिकारी भी भाग लेते थे। ज़ाहिर है कि बेल्जियन और डच उपनिवेशकों द्वारा स्पेनियों, अंग्रेजों, पुर्तगालियों और फ्रांसीसियों से अलग तरह की भाषाई नीति बनाने के पीछे इन कारणों की अहम भूमिका थी।

बेल्जियनों और डचों ने शुरू से ही तय किया कि वे अपनी अधीनस्थ प्रजा को युरोपीय भाषाएँ सिखाएँगे ही नहीं। इस अलग तरह की नीति के माध्यम से उन्हें अपने और उपनिवेशित समाज के बीच अंतर और दूरी कायम रखने का एक प्रबल भाषिक जरिया मिल गया। कोंगो और नीदरलैंड्स ईस्ट इंडीज (एनईआई) में शासक और शासित की भाषिक श्रेणियों की सीमारेखाएँ कठोर और स्पष्ट थीं। बेल्जियन और डच भाषाशास्त्रियों ने शुरुआत से ही स्वाहिली और मलय (स्थानीय लोग इन दोनों भाषाओं को अरबी लिपि के रूपों में लिखते थे) को इस प्रकार डिजाइन किया कि उन्हें बोलने–बरतने वाले उपनिवेशकों की सामाजिक–सांस्कृतिक परियोजना के स्वाभाविक अंग बन जाएँ। इसके केंद्र में भी विश्व को युरोपीय दृष्टि से देखने, उपनिवेशक को उपनिवेशितों से, सभ्य को आदिम या बर्बर से, और केंद्र को परिधि से अलग करने का विचार निहित था। ध्यान रहे कि विशाल भौगोलिक क्षेत्र के रूप में मध्य अफ्रीका और एनईआई में सैकड़ों भाषाएँ बोली जाती थीं। इनमें से ज़्यादातर को उनके उपनिवेशक न कभी समझ पाए और न ही उन्होंने इसकी कोशिश की। इस असाधारण विविधता का समाहार एक समान भाषा में करने के लिए कोंगो में स्वाहिली की छवि 'शुद्ध' अफ्रीकी भाषा की बनाई गई। उधर ईस्ट इंडीज़ में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

बहासा मेलायु या बहासा मलेशिया की रचना करके उसे मलेशियायी राष्ट्र–राज्य की औपचारिक भाषा घोषित कर दिया गया। इंडोनेशिया में यही लक्ष्य बहासा इंडोनेशिया की रचना करके वेधा गया। उपनिवेशवादियों के हत्थे चढ़ने से पहले ये दोनों भाषाएँ इन देशों के 'भूमिपुत्रों' की एक छोटी सी संख्या द्वारा कुछ–कुछ 'अन–नेटिव' जैसे अंदाज में बोली जाती थीं।

इंडोनेशिया में पहले बहासा मलय ही बोली जाती थी। अपने उत्तर–औपनिवेशिक समय में इस देश के राजनीतिक अभिजन ने इसी मलय को इंडोनेशियन रूप दिया, और उसे बहासा इंडोनेशिया कहना शुरू कर दिया। बेनेडिक्ट ऐंडरसन ने अपने एक मित्र को लिखे पत्र में बहासा इंडोनेशिया की रचना की पृष्ठभूमि का वर्णन इस प्रकार किया है–

इण्डोनेशिया...दुनिया का एकमात्र बड़ा उपनिवेश है जिसका प्रशासन (आज़ादी के बाद) किसी एशियाई भाषा में चलाया जाता है। सत्रहवीं सदी में इस उपनिवेश की संस्थापक डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी पूरी तरह से किफ़ायती सोच की हामी थी। उसे अपनी नौकरशाही को डच भाषा में प्रशिक्षित करने पर संसाधन ख़र्च करने में कोई दिलचस्पी नहीं थी। दूसरी तरफ़ उसके कई कर्मचारी जर्मन, स्वीडिश और स्कॉट भी थे।... उसने मलय द्वीप की पिडगिन भाषा ली, उसका रोमनीकरण किया, सरल व्याकरण अपनायी और अपनी मुख्य प्रशासनिक भाषा की तरह उसका इस्तेमाल किया। बीसवीं सदी की शुरुआत तक इंडोनेशिया में नौकरशाहों को डच सीखने के लिए हतोत्साहित करना जारी रहा।[49]

इस उद्धरण में एंडरसन ने डचों की भाषाई कारिस्तानी को किफ़ायती सरकार चलाने के आग्रह में सीमित कर दिया है। लेकिन, नीचे दिये गये विवरण से स्पष्ट है कि मसला न तो ख़र्चा बचाने का था, और न ही इंडोनेशिया दुनिया का अकेला ऐसा उपनिवेशित रह चुका देश है।

डचों ने जिस भाषा को बहासा मेलयु बनाया, वह दरअसल सुदूर–पूर्व एशिया में सक्रिय व्यापारियों की भाषा थी; जिसे वे भारत से लेकर जापान के बीच तिजारत के लिए इस्तेमाल करते थे। सत्रहवीं सदी से ही इसके दो रूप प्रचलित थे : परिनिष्ठित मलय, जो साहित्य की वाहक थी, और आम बोलचाल की मलय, जिसे पसर भी कहा जाता था, और जो बाज़ार में प्रचलित थी। उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया में बने सम्पर्क क्षेत्रों (युरोपीय उपनिवेशकों, दूसरे व्यापारियों और स्थानीयवासियों के बीच विवाहों के परिणामस्वरूप बनने वाली मिश्रित नस्ल की पीढ़ी के साथ–साथ नाना प्रकार की भाषाई अन्योन्य क्रिया) के कारण जावा की कावी भाषा,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

मलय और डच के बीच एक खिचड़ीनुमा क्रियोल बनकर तैयार हुई। अपने भाषाशास्त्रियों के सुझाव के अनुसार डच उपनिवेशिकों ने अठारहवीं सदी की शुरुआत में तय किया कि वे मलय के एक संशोधित रूप को अधीनस्थ प्रजा के साथ सम्पर्क के लिए इस्तेमाल करेंगे। जैसे–जैसे उपनिवेशन की ज़रूरतों का विस्तार हुआ, तरह–तरह की मलय सामने आने लगी। उन्नीसवीं सदी तक 'बैरक मलय', 'मार्केट मलय', 'स्कूल मलय' और 'सर्विस मलय' जैसी भाषिक श्रेणियाँ बन गईं। इनके व्याकरण और शब्दावली में काफ़ी समानता थी। शहरीकरण और तिजारत आधारित अर्थव्यवस्था में हुई उत्तरोत्तर बढ़ोतरी का परिणाम यह निकला कि छापाखाने के जरिये साक्षरों तक पहुँचने वाली मलय भी विकसित होने लगी। इस भाषिक विविधता के लम्बवत और क्षैतिज इस्तेमाल से उपनिवेशवादियों को सुविधा भी हुई, और समस्याएँ भी पैदा हुईं। जब संख्याएँ बढ़ीं तो उन्नीसवीं सदी के मध्य में डच भाषा–विज्ञानियों को मलय के एक ऐसे रूप की रचना में लगाया गया, जिसे अधीनस्थ प्रजा समान रूप से बोल, पढ़ और लिख सके। इसके लिए योजनाबद्ध रूप से शब्दकोश लिखे गए, व्याकरण तैयार हुए। अरबी लिपि के बजाय इस भाषा के लिए रोमन लिपि को प्रोत्साहित किया गया, ताकि उपनिवेशवाद के लिए ख़तरों के अंदेशे से भरे इस्लाम से इसका सम्पर्क भंग हो जाए।

मलय के 'शुद्ध पाठ और शुद्ध रूपों' पर युरोपीय फ़िलोलॅजिस्टों की मुहर लगने के बाद एक अधिकृत मलय संस्कृति की रचना की गई, जिसके मर्म में 'असली' और 'बेहतर' मलय थी। इन डच भाषाशास्त्रियों को लगता था कि वे ईस्ट इंडीज में भाषिक समरूपीकरण का ठीक वैसा ही काम कर रहे हैं, जैसा नीदरलैंड्स में विभिन्न डच बोलियों को एक समरूप डच में समाहित करके किया गया था। औपनिवेशिक सरकार ने इस गढ़ी गई भाषा को घोषित रूप से अपना प्रतिनिधि स्वीकार किया। सरकारी प्रोत्साहन से इसी भाषा में प्रकाशन–गृह खुले, और इसी के पाठक तैयार होने लगे। यह भाषा मलेशियायी आधुनिकीकरण की सामाजिक–सांस्कृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति में प्रमुख भूमिका निभाने लगी। ख़ास बात यह है कि यह गढ़ी गई भाषा औपनिवेशिक महाप्रभुओं की होते हुए भी उनकी अपनी डच भाषा के मुक़ाबले हमेशा दूसरे दर्जे की ही रही। इसका काम मलय समाज को पश्चिमी तर्ज पर प्रगति के रास्ते पर ले जाना था। वह डच की श्रेष्ठता को

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

चुनौती देने की जुर्रत नहीं कर सकती थी। कोई दस हजार डच हुक़्मरान अपनी 'श्रेष्ठ' युरोपीय भाषा को बोलते–बरतते थे। दोनों के बीच का भाषाई ऊँच–नीच (डायग्लॉसिया) निरपवाद रूप से स्पष्ट था। इस डायग्लॉसिकल परिस्थिति में बहासा मलय के पैरोकार अपने आत्मसम्मान की रक्षा करने के लिए इस भाषा को अक्सर बहासा बेलांडा भी कहते हैं। इसका सीधा मतलब होता है डच भाषा। इससे यह भी जाहिर होता है कि बहासा मलय पर डच की कितनी छाप है।

बेल्जियन शासित कोंगो में स्वाहिली के औपनिवेशिक विनियोग की कहानी बहासा मलय से कुछ अलग तरह की है। एडवर्ड सईद के शब्दों में कहें तो यह भी यूरोपीय विद्वानों, मिशनरियों, सैनिकों, यात्रियों और प्रशासकों द्वारा मध्य अफ़्रीका में एक भाषा को औपनिवेशिक साँचे में ढालने की कारिस्तानी थी, ताकि वहाँ के लोगों और भू–क्षेत्र पर युरोपीय बोलबाला कायम किया जा सके। यह पूरा घटनाक्रम उन्नीसवीं सदी के बाद के वर्षों से लेकर बीसवीं सदी के शुरुआती वर्षों तक फैला हुआ है। उपनिवेशकों ने स्वाहिली का अध्ययन किया, उसकी संरचनाएँ बदली और पहले चरण में उसे मजदूरों की भाषा के तौर पर स्थापित किया। दूसरे चरण में उसे शैक्षिक और वित्तीय मक़सदों से इस्तेमाल किया गया। इस प्रकरण में हर मुकाम पर बेल्जियन उपनिवेशकों के विमर्श का निर्देशन सामाजिक विचारधारा करते हुए दिखती है। स्वाहिली का यह विनियोग न केवल कोंगो की दैनंदिन राजनीति के संदर्भ में हुआ, बल्कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के स्तर पर भी उसे अंजाम दिया गया। सईद मानते हैं कि यह पूरी कहानी उपनिवेशवाद की साभ्यतिक महत्त्वाकांक्षाओं पर एक नयी रोशनी डालती है।[50]

जिन मज़दूरों का यहाँ जिक्र किया गया है, वे दरअसल काटांगा (आज का शाबा) के खनन–उद्योग से ताल्लुक रखते थे। इन श्रमिकों को ट्रेड यूनियन राजनीति के दायरे से अलग करने के लिए स्वाहिली को एक औज़ार की तरह चुना गया। इस राजनीति पर दक्षिण अफ़्रीकी फ़र्म रॉबर्ट विलियम ऐंड कम्पनी द्वारा की गई भर्तियों के कारण अंग्रेजी और फ़्रेंच बोलने वाले हावी थे, और बेल्जियनों को इससे ख़तरा लगता था। उनकी काट करने के लिए बेल्जियन उपनिवेशकों ने स्थानीय स्वाहिली को अस्मिता के झंडे के तौर पर मंचस्थ किया। 1920 से 1930 के बीच में 'प्रेक्टिकल स्वाहिली' के क़दम जमाने के लिए ऐसी अनगिनत पुस्तिकाएँ छापी और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

वितरित की गईं, जो इस भाषा को बोलने के तौर–तरीक़ों के बारे में थीं। इन पुस्तिकाओं से स्थानीय जनता को प्रशिक्षण दिया गया कि उन्हें नौकरी देने वाले उपनिवेशकों की आदेशकारी स्थिति का सम्मान करने वाली भाषा को कैसे बरता जाना चाहिए। इस तरह काली चमड़ी वाले कोंगोवासियों को उन्हीं की भाषा के जरिये 'सभ्य' बनाने की सांस्कृतिक मुहिम चलाई गई। यह प्रक्रिया शहरीकृत कोंगोवासियों को स्वाहिली के माध्यम से बुला मतारी (बेल्जियन शासन) की नुमाइंदगी से जोड़ने तक ले गई। इस तरह उपनिवेशवाद ने एक स्थानीय भाषा को सामाजिक और राजनीतिक नियंत्रण के प्रभावी उपकरण में बदल दिया। और तो और, औपनिवेशिक प्रशासन ने इसके जरिये अपने भीतरी अंतर्विरोधों से छुटकारा पाने में भी सफलता प्राप्त कर ली।

बेल्जियन हुकूमत ने स्वाहिली की शब्दावलियों, निर्देशिकाओं, व्याकरणों और संहिताओं के माध्यम से कई स्वार्थ सिद्ध किये। जो स्वाहिली अरबी लिपि में लिखी जाती थी, औपनिवेशिक हस्तक्षेप ने उसका रोमनीकरण किया, ताकि उसे इस्लामिक दायरे से बाहर निकाला जा सके। योनाहेस फ़ेबियन के मुताबिक एक औपनिवेशिक गढ़ंत के रूप में स्वाहिली की पहली उपयोगिता रोज़मर्रा के जीवन में इस्तेमाल की जाने वाली कैफ़िर बोली की जगह लेने की थी। इस संदर्भ में उपनिवेशक इस भाषा के बोलचाल वाले रूप को पिडगिन की तरह रखने के ही इच्छुक थे। इसकी दूसरी उपयोगिता 'शुद्ध' स्वाहिली के रूप में थी, ताकि उसे शिक्षा के मज़हबी और सेकुलर रूपों का वाहक बनाया जा सके। इस संदर्भ में उसे फ़्रेंच को प्रतिस्थापित करना था। दोनों लिहाज़ से कोंगो में स्वाहिली के प्रयोग का भाषिक बंदोबस्त कुछ इस तरह किया गया था कि उपनिवेशक अश्वेत जनता को आदेश देने और समझाने–बुझाने के लिए उसका एकतरफ़ा इस्तेमाल कर सकते थे। इस नियोजन के परिणामस्वरूप कोंगोवासियों को अपनी जैसी लगने वाली एक भाषा तो मिल गई, लेकिन यह एक भ्रम ही था। इस भाषा के ज़रिये वे कभी भी उन्मुक्त अभिव्यक्ति और संचार के दायरे में विचरण नहीं कर सके। बेल्जियनों की तरफ़ से उनके दरवाजे फ़्रेंच और अंग्रेजी के लिए पूरी तरह से बंद कर दिये गए थे, सिवाय इसके कि स्वाहिली पर इन दोनों भाषाओं का शब्दावली से संबंधित कुछ प्रभाव था। दूसरी तरफ़ कोंगो के युरोपियन पिडगिननुमा स्वाहिली बोली को

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

खिल्ली उड़ाने लायक मानते थे, और शिक्षा के लिए इस्तेमाल की जाने वाली स्वाहिली जटिलता के कारण उन्हें अगम्य लगती थी। दोनों ही सूरत में इसका परिणाम युरोपियनों और कोंगो वासियों के बीच भाषा के स्तर पर सम्पर्क–शून्यता में निकलता था।

● **उपनिवेशन के लिए वर्नाक्युलर मॉडल की उपयोगिता :** अफ़्रीका में फ्रांस के प्रत्यक्ष शासन और आत्मसातीकरण की कठोर नीति के मुक़ाबले ब्रिटिश उपनिवेशिकों ने अप्रत्यक्ष शासन की लचीली प्रतीत होने वाली नीति अपनायी। उन्होंने भाषाई कमेटियाँ गठित कीं जिनका काम उपयोगी 'वर्नाक्युलर्स' की शिनाख्त करना था, ताकि उनका युरोपीय तर्ज पर मानकीकरण करके औपनिवेशिक लक्ष्यों के लिए इस्तेमाल किया जा सके। उन्होंने अफ़्रीकी भाषाओं के लिए एक अंतर्राष्ट्रीय अफ़्रीकी वर्णमाला भी प्रस्तावित की, और स्वाहिली और हौजा भाषाओं को आधिकारिक प्रोत्साहन के लिए चुना। ध्यान रहे कि अंग्रेजों द्वारा स्थानीय भाषाओं में इस हस्तक्षेप का मतलब यह कतई नहीं था कि वे फ्रांसीसियों की अपेक्षा अंग्रेजी का दबदबा कायम करने में कुछ कम दिलचस्पी रखते थे। दरअसल, दोनों ही तरह की विधियों से सांस्कृतिक बिचौलियों का फ्रेंचभाषी और अंग्रेजीभाषी वर्ग तैयार हुआ। दोनों ही विधियों के तहत उपनिवेशकों का संदेश साफ़ था कि अगर सत्ताधारियों का संसर्ग करना है, औपनिवेशिक सार्वजनिक जीवन में भाग लेना है, तेज़ आर्थिक प्रगति करनी है, प्रशासन और अदालती व्यवस्था में भागीदारी करनी है, तो पहले या बाद में औपनिवेशिक प्रभुओं की भाषा पर महारथ हासिल करनी ही होगी।

अगर उत्तर–औपनिवेशिक संदर्भ में देखें तो द्वितीय विश्व–युद्ध के बाद के हालात में फ्रांस ने अपने भाषाई साम्राज्य की निरंतरता के लिए न कोई क़दम उठाया, न ही उसके पास इसकी कोई योजना थी। सत्तर के दशक में 'ला फ्रैंकोफ़ोन' संगठन की रचना हुई। शुरू में लगा कि यह संगठन फ़्रांसीसी भाषा के प्रति विश्वव्यापी आकर्षण का प्रतीक बन सकेगा, क्योंकि इसकी स्थापना की पहल करने वालों में ट्यूनीशिया के राष्ट्रपति हबीब बरगीबा, कम्बोडिया के राजकुमार सिंहनुक, सेनेगल के राष्ट्रपति लियोपोल्ड सेंगॅर, लेबनान के चार्ल्स हेलू और नाइजर के हमानी डियोरी शामिल थे। इसका मक़सद द्वितीय विश्व–युद्ध के बाद फ़्रांसीसी प्रभुत्व वाले

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इलाकों में अंग्रेजी के अतिक्रमण को रोकना और फ्रेंच के बोलबाले को क़ायम रखने का था। इस संगठन का दो–तिहाई बजट आज भी फ्रांस के ख़जाने से ही आता है। लेकिन, इन प्रयासों के बावजूद फ्रेंच का प्रचार–प्रसार पहली या दूसरी भाषा के रूप में फ्रांस के बाहर मुख्य तौर पर अपने पूर्व–उपनिवेशों में ही रह गया है। इस भाषा की सांस्कृतिक प्रतिष्ठा बरक़रार है, लेकिन एक विश्व–भाषा के रूप में यह पिछड़ती जा रही है। इन दोनों तथ्यों का विरोधाभास समझने की चीज़ है। अध्ययन की जाने वाली भाषा के लिहाज़ से देखा जाए तो फ्रेंच का नंबर दूसरा या तीसरा आता है, लेकिन बोली जाने वाली भाषा के रूप में इसका नंबर छठा है।

फ्रांस द्वारा दिखाई गई सुस्ती के विपरीत ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका ने भाषा–शिक्षण के युरोकेंद्रित मॉडलों पर जबरदस्त धनराशियाँ ख़र्च कीं। इसी के साथ इन देशों में विकसित हुए भाषा–केंद्रित अकादमीय अनुशासनों की सैद्धांतिक संरचनाएँ पूर्व–उपनिवेशों को निर्यात की गईं (या यह कहिए कि वे इस थमाये हुए ज्ञान को प्राप्त करने के लिए उत्सुक बैठे थे, क्योंकि उनके पास इसका कोई विकल्प ही नहीं था)। अंग्रेजी को एक औपनिवेशिक भाषा से आधुनिकता की सर्वाधिक स्वीकार्य भाषा बनाने के लिए एप्लाइड लिंगुइस्टिक्स के एक नये अनुशासन को जन्म दिया गया। अंग्रेजी को अगर प्रथम नहीं, तो दूसरी भाषा की तरह स्वीकार कराने के लिए पचास के दशक के बाद से ही ब्रिटिश कौंसिल और यूनाइटेड स्टेट्स इनफ़ॉर्मेशन सर्विस की संयुक्त कार्रवाई के जरिये अभूतपूर्व पैमाने पर एक ग्लोबल मुहिम चलाई गई। इन प्रयासों के परिणामस्वरूप आज अंग्रेजी विश्व की सर्वोच्च भाषा बन चुकी है। कोई डेढ़ अरब लोग अंग्रेजी बोलते हैं। इनमें 36 करोड़ ऐसे हैं, जिनकी प्रथम भाषा अंग्रेजी है। पूरी दुनिया अंग्रेजी के साम्राज्यवाद की गिरफ़्त में है। ध्यान रहे कि इस साम्राज्यवाद की नींव मेट्रोपॉलिटन मॉडल नहीं, बल्कि वर्नाक्युलर मॉडल के आधार पर डाली गई थी, और इसने कमोबेश भाषा और उपनिवेशवाद के संबंधों का वही मॉडल अपनाया था जिसकी शिनाख़्त ऊपर की गई है।

सिंहावलोकन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि वर्नाक्युलर मॉडल ही औपनिवेशिक हितों के लिए उपयोगी, और ख़ासकर उत्तर–औपनिवेशिक संदर्भों में उपनिवेशवाद के सांस्कृतिक और ज्ञानात्मक प्रभावों की निरंतरता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सुनिश्चित करता था। अलस्टेयर पेनीकुक ने मलाया के ब्रिटिश इंस्पेक्टर ऑफ़ स्कूल के एक कथन के हवाले से दिखाया है कि किस तरह अंग्रेजों द्वारा मातृभाषाओं में शिक्षा देने का उद्देश्य देशज बच्चों में 'आज्ञाकारिता', अंग्रेजों के प्रति कृतज्ञता और 'श्वेतांग पुरुष' के प्रति नफ़रत के किसी भी भाव को दूर करना था। इसी तरह पेनीकुक ने भारत में ब्यूरो ऑफ एजुकेशन की रपट के हवाले से दिखाया है कि किस तरह निचले स्तर पर युरोपीय ज्ञान–विज्ञान की शिक्षा देने के लिए भारतीय भाषाओं का इस्तेमाल करने की योजना बनाई गई थी।[51] अंग्रेजी माध्यम की पढ़ाई अपने सम्पूर्ण रूप में माध्यमिक स्तर से शुरू हो ही जानी थी। इस पूरी योजना से औपनिवेशिक भाषा की तरफ़ झुका हुआ एक असमान द्विभाषीपन (डायग्लॉसिया) ही निकल सकता था। अफ़्रीका के संदर्भ में और भारत के संदर्भ में उत्तर–औपनिवेशिक भाषा–नीति का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि देशभाषाओं को दिये गये तथाकथित प्रोत्साहन का अंतिम परिणाम भी औपनिवेशिक महाप्रभुओं की भाषाओं को एकमात्र या एक प्रमुख राजभाषा बनाने में ही निकला।[52]

प्रोफ़ेसर एवं निदेशक
दार्शनिक अभिलेख-अनुसंधान केन्द्र
डॉ. बी.आर. अम्बेडकर विश्वविद्यालय, दिल्ली
लोथियन रोड, कश्मीरी गेट, दिल्ली-110006

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणी

1. *यह साहित्य रोचक, विशद और विविध है. देखें, लुई–ज्याँ कालवे (1998), लेंग्वेज वार्स ऐंड लिंगुइस्टिक पॉलिटिक्स, अनु. मिशेल पेथेरम, ऑक्सफ़र्ड युनिर्वसिटी प्रेस, लंदन (कालवे फ़्रेंच के लेखक हैं और इस संबंध में उनकी कई रचनाएँ फ़्रेंच में ही हैं); इस संबंध में नुगी वा थियोंगो (1986) की रचना डिकोलोनाइजिंग द माइंड : द पॉलिटिक्स ऑफ लेंग्वेज इन अफ़्रीकन लिटरेचर, जेम्स करी, लंदन अनिवार्य रूप से पठनीय है। रॉबर्ट फ़िलिप्सन (1992) को श्रेय जाता है कि उनकी रचना लिंगुइस्टिक इम्पीरियलिजम, ऑक्सफ़र्ड युनिर्वसिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड ने इस बहस का रैडिकलाइजेशन कर दिया। अलस्टेयर पेनीकुक (1998) ने फ़िलिप्सन की मित्रतापूर्ण आलोचना करके इंग्लिश ऐंड द डिस्कोर्सिज़ ऑफ़*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कोलोनियलिजम, रुटलेज, लंदन द्वारा इस विमर्श को और समृद्ध किया. फ़िलिप्सन की पत्नी और डेनिश विदुषी टोव स्कुटनैब–कांगाज (2008), लिंगुइस्टिक जीनोसाइड इन एजुकेशन – ऑर वर्ल्डवाइड डायर्वसिटी ऐंड ह्यूमन राइट्स, ओरिएंड ब्लैकस्वान, नयी दिल्ली को कई आनुषंगिक अवधारणाओं के सूत्रीकरण का श्रेय जाता है। भाषाई साम्राज्यवाद पर एक भिन्न दृष्टि के लिए रेनर एनरिके हामेल (2005), 'लेंग्वेज एम्पायर्स, लिंग्विस्टिक इम्पीरियलिजम ऐंड द क्रयूचर ऑफ ग्लोबल लेंग्वेजेज', युनिर्वसिडाड ऑटोनोमा मेट्रोपोलिटाना, डिपार्टमेंट ऑफ़ एंथ्रोपोलॅजी, मैक्सिको का अध्ययन उपयोगी हो सकता है.। लातिनी अमेरिकी संदर्भ में वाल्टर डी. मिन्योलो की कई रचनाएँ और युनिर्वसिटी ऑफ़ मिशिगन प्रेस द्वारा प्रकाशित उनकी कृति (1995) द डार्कर साइड ऑफ़ रिनैसाज अपने रैडिकल सूत्रीकरणों के लिए विचारोत्तेजक हैं। क्रियोल और पिडगिन समुदायों के संदर्भ में भाषा और उपनिवेशवाद के संबंधों के अध्ययन के लिए देखें, बेटिना मिगे और इजाबेला लीगलाइज (2007) का लम्बा निबंध 'लेंग्वेज ऐंड कोलोनियलिजम : एप्लाइड लिंगुइस्टिक्स इन द कांटेक्स्ट ऑफ क्रियोल कम्युनिटीज', मार्लिस हेलिंगर और एन पॉवेल्स, लेंग्वेज ऐंड कम्युनिकेशन : डायवर्सिटी ऐंड चेंज, हेंड बुक ऑफ़ एप्लाइड लिंगुइस्टिक्स, मौटन डि ग्रुइटर : 297–338. यह सूची और भी लम्बी है।

2. उत्तर–औपनिवेशिक विमर्श भाषा और उपनिवेशवाद पर समग्र दृष्टि डालने में कई कारणों से असमर्थ है.। पहला, यह विमर्श पश्चिम में तैयार करके एशिया को निर्यात किया गया। यह मुख्य तौर पर दक्षिण एशिया, ऑस्ट्रेलिया, दक्षिण अफ़्रीका और ब्रिटेन के उपनिवेश रह चुके अन्य देशों पर ही केंद्रित रहता है। यह दक्षिण अमेरिका, कैरिबियन, फ्रेंच उपनिवेशवाद के तहत आने वाले अफ़्रीका, और अरब–मुस्लिम क्षेत्र द्वारा किये जा रहे वि–उपनिवेशीकरण के संघर्षों पर ध्यान नहीं देता।. दरअसल, वह औपनिवेशिकता को दो हिस्सों में बाँट देता है– उपनिवेशवाद की स्पेनिश/पुर्तगीज शुरुआत और ब्रिटिश/फ्रेंच वाला दूसरा अधिक परिपक्व दौर। एडवर्ड सईद की ओरिएंटलिज़्म वाली और ल्योतार द्वारा प्रवर्तित उत्तर–आधुनिकता वाली विचार–परम्परा में उसका ज़ोर उपनिवेशीकरण के ब्रिटिश और फ्रेंच अनुभव पर ही रहता है। दूसरा, उत्तर–औपनिवेशिक विमर्श पूरी तरह से अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी के बौद्धिक केंद्रों (इंग्लैंड और संयुक्त राज्य अमेरिका) में रचा गया है। इस भौगोलिक और भाषाई स्थिति का असर उपनिवेशवाद के प्रति उसके रवैये पर पड़ा है। उसके भीतर उपनिवेशवाद द्वारा बरपाये गए मानवता के विनाश के प्रति एक द्वैधवृत्ति आ गई है। औपनिवेशिक अनुभव की जटिलता का संधान करने के नाम पर यह विमर्श इस अनुभव की असमानता पर अत्यधिक ज़ोर देता है। यह उपनिवेशवाद की ठोस

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अभिव्यक्तियों को नज़रंदाज करते हुए किसी सम्पूर्ण निर्मिति को देखने से बचने की कोशिश करता है। तीसरा, यह विमर्श उपनिवेशित रह चुके देशों की भाषाई नीतियों, ज्ञानोत्पादन के मामले में औपनिवेशिक भाषाओं पर उनकी निर्भरता और औपनिवेशिक शिक्षा–प्रणाली को जारी रखने की प्रवृत्ति की आलोचना से आम तौर पर परहेज करता है। उत्तर–औपनिवेशिक विमर्श की आलोचना के लिए देखें, ई. सैन जुआँ, जू. (2019), 'द लिमिट्स ऑफ़ पोस्टकोलोनियल क्रिटिसिज्म : द डिस्कोर्स ऑफ एडवर्ड सईद', *सोलिडरिटी, readings%20about% 20europe/new% 20 material/ The%20 Limits% 20of%20Postcolonial% 20 Criticism_% 20 The %20Discourse%20 of%20 Edward %20 Said.htm* पर उपलब्ध। इसके अलावा देखें, वाल्टर डी. मिन्योलो (1993), 'कोलोनियल ऐंड पोस्टकोलोनियल डिस्कोर्स : कल्चरल क्रिटीक ऑर एकेडेमिक कोलोनियलिजम?', लातिन अमेरिकन रिसर्च रिव्यू, खंड 28, अंक 3 : 120–134.

3. 'कोलम्बियन एक्सचेंज' की इस व्याख्या के लिए देखें, नेथन नुन और नैंसी क्विन (2010), 'द कोलम्बियन एक्सचेंज : अ हिस्ट्री ऑफ़ डिसीज, फूड, ऐंड आइडियाज', जर्नल ऑफ इकॉनॉमिक पर्सपेक्टिव्ज़, खंड 24, अंक 2 : 163–188.
4. मोटे तौर पर प्राच्यवाद और नव–प्राच्यवाद के बीच अंतर इस प्रकार समझा जा सकता है– प्राच्यवाद का मतलब है उन यात्रियों और मिशनरी विद्वानों की भारत संबंधी रचनाएँ जिन्हें भारत की भाषाएँ, ख़ासकर संस्कृत, फ़ारसी और हिंदुस्तानी, नहीं आती थी। नव–प्राच्यवाद की संज्ञा वारेन हेस्टिंग्ज़ की सरपरस्ती में रचे गए प्राच्यवादी साहित्य को दी गई। इसे अधिक प्रामाणिक माना गया, क्योंकि इसकी विद्वत्तमंडली ने भारतीय पंडितों की मदद से भारतीय भाषाएँ, ख़ास तौर से संस्कृत, सीख ली थीं। नव–प्राच्यवाद या 'न्यू–ओरिएंटलिज़म' का पद थॉमस ट्राउटमान का ईज़ाद किया गया है, और बाद में और भी विद्वानों (जैसे, आलोक के. मुखर्जी (2009), दिस गिफ्ट ऑफ इंग्लिश : इंग्लिश एजुकेशन ऐंड द फॉर्मेशन ऑफ आल्टरनेटिव हेजेमॅनीज इन इंडिया, ओरिएंट ब्लैकस्वान, नयी दिल्ली) ने इसका इस्तेमाल किया है। टोनी बैलेंटाइन (2002), ओरिएंटलिजम ऐंड रेस : आर्यनिज़म इन द ब्रिटिश पालग्रेव मैक्मिलन, लंदन ने इसके लिए कम्पनी–ओरिएंटलिजम' पद अपनाया है।
5. बैलैंडियर के इस लेख के अंग्रेजी अनुवाद के लिए देखें, जॉर्ज बैलैंडियर (1952), 'द फ़ेक्ट ऑफ कोलोनियलिजम : अ थियरीटकल एप्रोच', क्रॉस करेंट, खंड 2, अंक 4: 10–31.
6. ये रचनाएँ उपनिवेशवाद के अफ्रीकी अध्याय से संबंधित है. अल्बर्ट मेमी (1967), द कोलोनाइजर ऐंड कोलोनाइज्ड, अनु. हावर्ड ग्रीनफील्ड, बीकन, न्यूयार्क; एमी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सिजिएर (1972), डिस्कोर्स ऑन कोलोनियलिज्म, अनु. जोआन पिंकहैम, मंथली रिव्यू प्रेस, न्यूयार्क और ओ. मानोनी (1950/1956), प्रोस्पेरो ऐंड कैलिबान : साइकोलॅजी ऑफ कोलोनाइज़ेशन, अनु. फिलिप मेसन, मेथ्यून, लंदन.

7. फानो के कथन के लिए देखें उनकी 1967 में प्रकाशित रचना ब्लैक स्किन, व्हाइट मास्क्स, अनु. सी.एल. मार्कमेन, ग्रोव प्रेस, न्यूयार्क : 18. (कोष्ठक में लिखे गए इटेलिक शब्द लेखक की ओर से)
8. देखें, फ्रांज फानो (1963), द रेचेड ऑफ द अर्थ, अनु. कांस्टेंस फ़ेरिंग्टन, ग्रोव प्रेस, न्यूयार्क 170.
9. देखें, आशिस नंदी (1986/2019), जिगरी दुश्मन : उपनिवेशवाद के साये में आत्म–क्षय और आत्मोद्धार, अनु. अभय कुमार दुबे, सामयिक विमर्श ग्रंथमाला, सीएसडीएस–वाणी, नयी दिल्ली : 23..
10. इस मान्यता के लिए देखें, आशिस नंदी (1986/2019), उपरोक्त : 5. अपने पक्ष में नंदी ने जेम्स मॉरिस (1971), हेविंज कमांड : एक इम्पीरियल प्रोग्रेस, फ़ेबर ऐंड फ़ेबर, लंदन का हवाला दिया है।
11. आशिस नंदी (1986/2019), वही : 163.
12. इस विषय में विस्तार से चर्चा के लिए देखें मेरी सद्यः प्रकाशित पुस्तक उपनिवेशवाद का अलौकिक साम्राज्य : भाषा, ज्ञान और संस्कृति के अंतरण की कहानी का एक अध्याय : 'अंग्रेजी का आलौकिक साम्राज्य'।
13. इस मान्यता के लिए देखें, आशिस नंदी (1986/2019) : 11 ('प्राक्कथन'). नंदी अपनी इस रचना में इस बात को मानते जरूर हैं, लेकिन उनका जोर यह बताने पर है कि जैसे ही अंग्रेजों ने 'लिंग, आयु और विचारधारा' से संबंधित प्रत्ययों को जमीन पर उतारना शुरू किया, वैसे ही ब्रिटिश शासन पर भारतीय जीवन–शैली का प्रभाव ख़त्म हो गया। मैं इस कथित भारतीय प्रभाव को हमदर्दी से नहीं देखता। मेरे विचार से वारेन हेस्टिंग्ज़ के ज़माने की इस रणनीति में लम्बी मुस्लिम हुकूमत के बरक़्स 'हिंदू एनफ़्रेंचाइज़मेंट' के ऐसे पहलू थे जिनके कारण हिंदू मानस में मुस्लिम विरोध को पानी मिला। ब्रिटिश इंडोलॅजी की शुरुआती निर्मिति करने वाले विद्वानों ने इस पहलू को बड़ी कुशलता से दिखाया है। दूसरे, इस रणनीति द्वारा फैलाये गए धुँधलके के कारण उपनिवेशवाद की ज़्यादातर आलोचनाएँ आज तक कुछ न कुछ भावभीनी हो ही जाती हैं। विभिन्न अनुसंधानों ने यह साबित कर दिया है कि हेस्टिंग्ज़ और नव–प्राच्यवाद की रणनीतिक जुगलबंदी के पीछे यह साबित करने का आग्रह था कि भारत का कभी एक स्वर्णिम युग था जिसके केंद्र में वेद, संस्कृत और आर्य–श्रेष्ठता थी। लेकिन, भारत के 'पतित वर्तमान' के बारे में नव–प्राच्यवादियों और बेंथम, मिल

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

और मैकॉले जैसे ब्रिटिश उपयोगितावादी–उदारतावादियों के विचारों में कोई अंतर नहीं था। इन्हीं विचारों की बुनियाद पर उन्नीसवीं सदी में अंग्रेजों ने अपने उपनिवेशवाद का प्रशासनिक शीराज़ा खड़ा किया।

14. थॉमस ट्राउटमान (1997), आर्यस ऐंड ब्रिटिश इंडिया, युनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस, न्यूयार्क 35.
15. देखें, भीखू पारेख (1994), 'चैंजिंग ब्रिटिश परसेप्शंस ऑफ इंडिया', के.एन. मलिक और पीटर रॉब (सं.), इंडिया ऐंड ब्रिटेन : रिसेंट पास्ट एंड प्रजेंट चौलेंज, एलाइड पब्लिशर्स, नयी दिल्ली : 343–344.
16. ट्राउटमान द्वारा किये गए इस विभाजन के लिए देखें, थॉमस आर. ट्राउटमान (1997), पूर्वोद्धृत (तीसरा और चौथा अध्याय : 'ब्रिटिश इंडोमेनिया' और 'ब्रिटिश इंडोफ़ोबिया').
17. ज़ियाउद्दीन सरदार, आशिस नंदी, मेरिल विन डेवीज और क्लॉड अलवारिस (1993), द ब्लाइंडिड आई : 500 इयर्स ऑफ क्रिस्टोफर कोलम्बस, द अदर इंडिया प्रेस, गोवा और द अपेक्स प्रेस, न्यूयार्क : 67–68.
18. जोसेफ एरिंगटन (2008), लिंगुइस्टिक्स इन कोलोनियल वर्ल्ड : अ स्टोरी ऑफ लेंग्वेज, मीनिंग, ऐंड पावर, ब्लैकवेल पब्लिशिंग, ऑक्सफर्ड, यूके : 93–94.
19. वाल्टर डी. मिन्योलो (1992), नेब्रिजा इन द न्यू वर्ल्ड : द क्वेश्चन ऑफ द लेटर, द कोलोनाइजेशन ऑफ अमेरइंडियन लेंग्वेजिज, ऐंड द डिस्कंटिनुइटी ऑफ द क्लासिकल ट्रेडिशन', लहोमे, 32इ एन्नी, अंक 122/124 : 185–207.
20. सत्रहवीं और अठारहवीं सदी में तीन पादरियों ने हिंदी के व्याकरण भी लिखे थे। ये थे जॉन जोशुआ केटलेर, बेंजामिन शुल्ज़ और कासिआनो बेलिगात्ती। इनके बारे में जानकारी के लिए देखें 1976 में संत पौलुस प्रकाशन, इलाहाबाद से प्रकाशित पुस्तक हिंदी के तीन प्रारम्भिक व्याकरण, रामविलास शर्मा (2002, पाँचवाँ संस्करण), भाषा और समाज, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली में इस पुस्तक की मदद से इन तीन व्याकरणों की तनिक विस्तार से चर्चा की गई है : 37–42.
21. देखें, पीटर मुलहौज़र (1996), लिंग्विस्टिक इकॉलॅजी : लेंग्वेज चेंज ऐंड लिंग्विस्टिक इम्पीरियलिज्म इन पेसिफिक रीजन, रुटलेज, लंदन और न्यूयार्क : 139
22. देखें, जोसेफ़ एरिंगटन (2008) पूर्वोद्धृत. उपनिवेशितों की भाषा को 'कोलोनियल आर्टिफ़ेक्ट' बनाने की यह प्रक्रिया भारतीय संदर्भ में कैसे चली, इसके विश्लेषणात्मक विवरण के लिए देखें, बर्नार्ड एस. कॉन (1996), 'द कमांड ऑफ लेंग्वेज ऐंड द लेंग्वेज ऑफ कमांड', कोलोनियलिजम ऐंड इट्स फ़ार्म्स ऑफ नॉलेज : द ब्रिटिश इन इंडिया, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन : 16–56.
23. डी.एल. व्हाइटमेन (1974), 'द क्रिश्चियन मिशन ऐंड कल्चरल चेंज इन न्यू गिनी', मिसियोलॅजी III (II) : 17–33.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

24. देखें, जे.टी. गुंठर (1958), 'द पीपुल', जे. विल्कीज (सं.), न्यू गिनी ऐंड ऑस्ट्रेलिया, एंगल ऐंड रॉबर्टसन, सिडनी 59.
25. देखें, जोसेफ़ एरिंगटन (2008) पूर्वोद्धृत : 97–100.
26. मोनिका हेलर और बोनी मैक्इल्हिनी (2017), लेंग्वेज, कैपिटलिज्म, कोलोनियलिज्म : टुवर्ड्स अ क्रिटिकल हिस्ट्री, युनिवर्सिटी ऑफ टोरंटो प्रेस, न्यूयार्क: 36–37.
27. रामविलास शर्मा (2002, पाँचवाँ संस्करण), पूर्वोद्धृत : 38.
28. देखें, जी.बी. मिलनर (1984), 'द न्यू मिशनरीज? लेंग्वेज, एजुकेशन ऐंड द पैसिफिक वे', सी. क्लेर्क (सं.), द इफेक्ट्स ऑफ डिवेलपमेंट ऑन ट्रेडिशनल पैसिफ़िक आइलैंड कल्चर्स, रॉयल कॉमनवेल्थ सोसाइटी, लंदन : 15.
29. पाइक की फ़ोनेमिक्स के बारे में चर्चा के लिए देखें, जोसेफ एरिंगटन (2001), पूर्वोद्धृत: 19–39. सस्यूर के प्रच्छन्न विचारधारात्मक रुझानों के लिए देखें सस्यूरियन भाषा–विज्ञान पर जॉन जोसेफ़ की दो रचनाएँ : (2000) 'लेंग्वेज ऐंड साइकोलॅजीकल रेस : लियोपोल्ड डि सस्यूर ऑन फ्रेंच इन इंडोचाइना', लेंग्वेज ऐंड कम्युनिकेशन, खंड 20 : 29–53, और (2003), 'पिचेट्स दु बियू (1856) ऐंड द क्रिस्टिलाइजेशन ऑफ सस्यूरियन लिंगुइस्टिक्स', हिस्टोरियोग्राफिया लिंगुइस्टिका, खंड 30, अंक 3 : 365–388.
30. इन दोनों संगठनों के अमेरिकी साम्राज्यवाद से रिश्तों के लिए देखें, डेविड स्टोल (1982), 'द समर इंस्टीट्यूट ऑफ लिंगुइस्टिक्स ऐंड इंडीजीनियस मूवमेंट्स', लातिन अमेरिकी पर्सपेक्टिव्ज़, खंड 9, अंक 2, माइनॉरिटीज इन अमेरिकाज) : 84–99. कुछ और सामग्री के लिए देखें, लाइज एम. डोब्रिन (2009), एसआईएल इंटरनैशनल ऐंड डिसिप्लिनरी कल्चर ऑफ लिंगुइस्टिक्स : इंट्रोडक्शन', लेंग्वेज, खंड 85, अंग 3.
31. मूर अफ्रीकी मूल के श्यामवर्णीय मुसलमान अरब थे जिन्होंने सात सौ साल तक स्पेन पर हूकूमत की थी। 1479 में आइबेरियन द्वीप समूह में कैथॅलिक शक्तियों द्वारा चलाए गए रिकॉक्विस्टा अभियान के परिणामस्वरूप मूरों की पराजय शुरू हुई और अरागों और कैस्टीले के क्षेत्रों को मिला कर राजनीतिक रूप से एकीकृत स्पेन का गठन हुआ। मूरों के राज्य में अरबी भाषा और इस्लाम का प्रभुत्व था, लेकिन उनके शासन के दौरान किसी भाषा और धर्म को संहार के दौर से नहीं गुजरना पड़ा। मूरों के साम्राज्य को आज तक उसकी बहुसांस्कृतिक संरचना और नीतियों के लिए जाना जाता है। इसका सबूत यह है कि 1492 में जब ग्रैनेडा में मूरों का अंतिम गढ़ ढहा, उस समय भी कैस्टीले में कैथॅलिक धर्म और कैस्टीलियन भाषा का ख़ासा वजूद था। मूरों और यहूदियों के सामने कैथॅलिक साम्राज्ञी ने शर्त रखी थी कि वे कैथॅलिक बन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

जाएँ या स्पेन छोड़कर चले जाएँ, वरना उन्हें तलवार के घाट उतार दिया जाएगा। उनके पास द्वीपसमूह छोड़कर चले जाने के अलावा और कोई चारा नहीं था।

32. कोलम्बस के जर्नल के लिए देखें, क्रिस्टोफर कोलम्बस (अनु. जॉन कमिंस) (1992), द वॉयेज ऑफ क्रिस्टोफर कोलम्बस : कोलम्बस' ज ओन जर्नल ऑफ डिस्कवरी, सेंट मार्टिस प्रेस, न्यूयार्क : 94.
33. ज़ियाउद्दीन सरदार वगैरह (1993), पूर्वोद्धृत : 2.
34. स्टीफ़न ग्रीनब्लैट (1991), मार्वलस पजेशंस : द वंडर ऑफ द न्यू वर्ल्ड, युनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस, शिकागो।
35. इस पहलू पर टिप्पणी के लिए देखें, रेनर एनरिके हामेल (2005), 'लेंग्वेज एम्पायर्स, लिंग्विस्टिक इम्पीरियलिजम, ऐंड द फ़्यूचर ऑफ़ ग्लोबल लेंग्वेजेज', युनिवर्सिडाड ऑटोनोमा मेट्रोपोलिटाना, डिपार्टमेंट ऑफ एंथ्रोपोलॅजी, मैक्सिको।
36. देखें, जोनाथन हार्ट (2007), 'लेंग्वेज, युरोपियन', थॉमस बेंजामिन, इन साइक्लोपीडिया ऑफ़ वेस्टर्न कोलोनियलिजम सिंस 1450, थॉमसन गेल, न्यूयार्क : 695–703.
37. इस कथन के लिए देखें हाइडेगर का निबंध 'द एज ऑफ द वर्ल्ड टाइम' जो उनकी रचना द क्वेश्चन कंसर्निंग टेक्नोलॅजी ऐंड अदर एस्सेज (1977), अनु. विलियम लोविट, हार्पर टॉर्चबुक, न्यूयार्क में संकलित है।
38. डी.बी. क्विन (1976), 'रिनैसाँज़ इनफ्लुएंस इन इंग्लिश कोलोनाइज़ेशन : द प्रोथेरो लेक्चर', ट्रांजेक्शंस ऑफ द रॉयल हिस्टोरिकल सोसाइटी, खंड 26 : 73–93.
39. स्पेनी और पुर्तगाली उपनिवेशवाद की भाषाई समानताओं के एक उत्कृष्ट विश्लेषण के लिए देखें, क्रिस्टीना गोस्की सेवेरो (2016), 'द कोलोनियल इन्वेंशन ऑफ लेंग्वेजिज़ इन अमेरिका, अल्फ़ा, साओ पाओ, खंड 60, अंक 1 : 11–27. http://dx.doi.org/10.1590/1981-5794-1604-1 पर उपलब्ध।
40. इस दृष्टि से पुर्तगाली उपनिवेशवाद के ब्राज़ीली उदाहरण के विशद अध्ययन के लिए देखें, लूसियाने क्रिस्टीना स्कैराटो (2016), लेंग्वेज, आइडेंटिटी ऐंड पावर इन कोलोनियल ब्राज़ील, 1695–1822, पीएच–डी शोध–प्रबंध, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी, न्यू हैम कॉलेज, इतिहास संकाय, https://www.repository. cam.ac.uk › bitstream › handle › Scarato-2017-PhD पर उपलब्ध।
41. गोवा में पुर्तगाली उपनिवेशवाद के भाषा और शिक्षा प्रकरण के लिए देखें, अलफ़ोंसो एम. बोटेल्हो (2007), लेंग्वेज ऐंड अर्ली स्कूलिंग इन गोवा, पीएच–डी शोध–प्रबंध, समाजशास्त्र विभाग, गोवा विश्वविद्यालय,, https://www.academia.edu. Language_and_Early_Schooling_in_Goa.पर उपलब्ध।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

42. इस विषय में विशद साहित्य उपलब्ध है। नमूने के लिए देखें, बी.जी. डिसूजा (1975), गोअन सोसाइटी इन ट्रांजीशन : अ स्टडी इन सोशल चेंज, पॉप्युलर प्रकाशन, बंबई.
43. निकोलस ओस्टलर (2005), इम्पायर्स ऑफ द वर्ड : अ लेंग्वेज हिस्ट्री ऑफ द वर्ल्ड, हार्पर कोलिंस ई–बुक्स, लंदन और न्यूयार्क, 307–309.
44. स्वाहिली को औपनिवेशिक भाषा बनाने की प्रक्रिया पर एक बेहतरीन अनुसंधान के लिए देखें, योहानेस फ़ेबियन (1986), लेंग्वेज ऐंड कोलोनियल पॉवर : द एप्रोप्रियेशन ऑफ स्वाहिली इन द फ़ॉर्मर बेल्जियन कोंगो 1880–1938, कैलिफ़ोर्निया युनिवर्सिटी प्रेस, बर्कले.
45. मलय को औपनिवेशिक भाषा बनाने की प्रक्रिया के अध्ययन के लिए देखें, बेनेडिक्ट एंडरसन (1990), लेंग्वेज ऐंड पॉवर : एक्सप्लोरिंग पॉलिटिकल कल्चर्स इन इंडोनेशिया, कॉर्नेल युनिर्वसिटी प्रेस, इथाका, न्यूयार्क.
46. बहासा इंडोनेशिया की औपनिवेशिक निर्मिति के लिए देखें, जोसेफ़ एरिंगटन (2006), 'गोइंग 'अन–नेटिव' इन इंडोनेशिय(न)', सोशल एनालैसिस : द इंटरनैशनल जर्नल ऑफ एंथ्रोपोलॅजी, खंड 50, अंक 1 : 178–183.
47. एक युरोपियन राष्ट्र के रूप में बेल्जियम 1830 में वजूद में आया, और 1908 के कोलोनियल चार्टर के जरिये उसने मध्य अफ़्रीका के कोंगो को अपना उपनिवेश बनाया। इसमें बेल्जियम के राजा लियोपोल्ड–द्वितीय की विशेष भूमिका थी। बेल्जियम राज्य की अन्य शक्तियाँ इस पक्ष में नहीं थीं, लेकिन लियोपोल्ड की विशेष पहलक़दमी से पहले कोंगो फ़्री इस्टेट का गठन हुआ, और फिर उसका उपनिवेशीकरण किया गया।
48. नीदरलैंड्स उपनिवेशवाद का पुराना खिलाड़ी रहा है। सत्रहवीं सदी की शुरुआत में ही डच ईस्ट इंडिया कम्पनी और डच वेस्ट इंडिया कम्पनी की शुरुआत हो गई थी। ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी का गठन तो दो साल पहले हो गया था, लेकिन डच ईस्ट इंडिया कम्पनी ने शुरुआती प्रतियोगिता में उसे पछाड़ दिया। इन उपनिवेशीकरण के इन दोनों औजारों की भाषा संबंधी नीतियों में बहुत अंतर था। अंग्रेजों की दिलचस्पी जहाँ अपनी भाषा थोपने में थी, वहीं डचों ने व्यापकतम प्रसार वाली स्थानीय भाषाओं को उपनिवेशवाद के औज़ार की तह गढ़ा।
49. बेनेडिक्ट ऐंडरसन द्वारा 22 नवम्बर, 1988 को लिखा गया एक निजी पत्र, डेविड डी. लाइटिन, लैंग्वेज पॉलिसी ऐंड पॉलिटिकल स्ट्रैटजी इन इण्डिया', पॉलिसी साइंसेज, खंड 22, अंक 3/4 : 415–436.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

50. एडवर्ड सईद की इस टिप्पणी के लिए देखें योहानेस फ़ेबियन (1986), लेंग्वेज ऐंड कोलोनियल पॉवर : द एप्रोप्रियेशन ऑफ स्वाहिली इन द फॉर्मर बेल्जियन कोंगो 1880–1938, कैलिफ़ोर्निया युनिवर्सिटी प्रेस, बर्कले में उनके द्वारा लिखी गई छोटी सी भूमिका।

51. देखें, अलेस्टेयर पेनीकुक (1998), इंग्लिश ऐंड द डिस्कोर्स ऑफ कोलोनियलिज्म, रुटलेज, लंदन और न्यूयार्क : 87, 100.

52. बेटिना मिगे और इजाबेला लीगलाइज (2007), 'लेंग्वेज ऐंड कोलोनियलिज्म : एप्लाइड लिंगुइस्टिक्स इन द कांटेक्स्ट ऑफ क्रियोल कम्युनिटीज़', मार्ल्स हेलिंगर और एन पॉवेल्स, लेंग्वेज ऐंड कम्युनिकेशन : डायर्वसिटी ऐंड चेंज, हैंड बुक ऑफ एप्लाइड लिंगुइस्टिक्स, मौटन डि ग्रुइटर.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सांख्य-योग की सैद्धान्तिकी का पुनरावलोकन

शिव कुमार यादव

प्रस्तावना

सांख्य–योग दर्शन मनुष्य के जीवन–मूल्यों की दार्शनिक व मनोवैज्ञानिक गवेषणा है। वह अपनी दार्शनिक पृष्ठभूमि में मानववादी दृष्टिकोण अपनाता है। सांख्य–योग की जिज्ञासा है कि मनुष्य का स्वयं में क्या मूल्य है और मनुष्य हेतु क्या मूल्यवान है? सांख्य–योग दर्शन मनुष्य को केन्द्र में रखकर जीवन–सत्यों की खोज करता है। इसीलिए वह जीवात्मा विशेष के स्वतंत्र अस्तित्व पर शंका उठाने वाले दर्शनों में अरुचि रखता है। यह सामान्य अनुभव के आधार पर अपने दर्शन की स्थापना करता है, और अतिरिक्त समर्थन हेतु शब्द प्रमाण या श्रुति को भी स्वीकार करता है। सांख्य वास्तव में सबसे अधिक अनुभव–संगत दर्शन है, यद्यपि साथ ही यह अत्यधिक साहसपूर्ण तत्त्वमीमांसा भी है। इसका द्वैतवाद और पुरुष बहुत्ववाद साधारण अनुभव की रक्षा के आग्रह के द्योतक हैं, जबकि इनके स्वरूप और सम्बन्ध की कल्पना सूक्ष्मतम और अत्यन्त साहसपूर्ण तत्त्वमीमांसीय चिंतन की द्योतक हैं।[1] सांख्य–योग दर्शन में मुख्यतः प्रत्यक्ष और अनुमान के आधार पर ही अपने दार्शनिक सिद्धांतों की स्थापना होती है– प्रत्यक्ष द्वारा इन्द्रियानुभूत प्रमेयों की सिद्धि होती है और अनुमान (विशेषकर सामान्यतोदृष्ट) द्वारा अतीन्द्रिय प्रमेयों की सिद्धि होती है। फिर भी अपने मत के अतिरिक्त समर्थन हेतु आगम अथवा शब्द को भी परोक्ष प्रमाण के रूप में स्वीकार किया जाता है–"दृष्टमनुमानमाप्तवचनम् च सर्वप्रमाणसिद्धित्वात्। त्रिविधं प्रमाणमिष्टं, प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि।। अर्थात् सांख्यशास्त्रियों को दृष्ट (प्रत्यक्ष), अनुमान तथा आप्तवचन प्रमाण ही मान्य है, क्योंकि अन्य दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत अतिरिक्त प्रमाणों का इन्हीं में अंतर्भाव हो जाता है। यह निश्चित है कि प्रमाण द्वारा ही प्रमेय की सिद्धि होती है।"[2] पुनः "सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां

उन्मीलन - वर्ष 37, अंक 2, जुलाई-दिसम्बर 2024
ISSN-0974-0053
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, SI.No. 310

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रतीतिरनुमानात्। तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात्सिद्धम्"।। अर्थात् – सामान्यतोदृष्ट से अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान होता है और अनुमान से जिन पदार्थों की सिद्धि नहीं हो पाती है, वे परोक्ष पदार्थ आगम प्रमाण से जाने जाते हैं।"[3] मनुष्य जब अपने सामान्य अनुभव पर विचार करता है तो वह समष्टि में दो कोटि के अस्तित्व को देखता है– प्रथम स्वार्थ प्रवृत्ति से युक्त चेतन जीवों को देखता है तथा दूसरा स्वार्थ प्रवृत्ति से रहित अचेतन जगत् को देखता है। इसी आधार पर सांख्य दर्शन सृष्टि के दो मूल तत्त्वों की सत्ता को प्रकृति व पुरुष के युगबद्ध अस्तित्व के रुप में स्वीकार करता है। यहाँ पर युगबद्ध अस्तित्व का तात्पर्य दो पृथक् व विपरीत स्वभाव वाले परस्पर पूरक तत्त्वों की अविनाभावी सत्ता से है जिसमें यह कदापि नहीं हो सकता कि एक तत्त्व विद्यमान हो तथा दूसरा पूरक तत्त्व विद्यमान न हो।

सांख्य दर्शन की अवधारणा है कि जीवात्मा के बंधन व चित्त–रूपांतरण की प्रक्रिया प्रकृति के प्रधान स्वामित्व में सम्पन्न होती है। पुरुष के बंधन व कैवल्यरूपी प्रयोजन को पूर्ण करने में प्रकृति की ही प्रधान और सक्रिय भूमिका है। प्रकृति जहाँ एक ओर जगत् की सृष्टि का निमित्त और उपादान कारण है, वहीं दूसरी ओर पुरुष के विवेक का आवरण करने वाली शक्ति (अविद्या) का भी निमित्तोपादान कारण है। प्रकृति जीवात्मा के बंधन व चित्त रुपान्तरण की प्रक्रिया को त्रिगुण वैषम्य में बदलाव के द्वारा संचालित करती है। सांख्य के सिद्धांतानुसार प्रकृति के तीनों गुणों में मूलतः दो तरह की सक्रियता या अर्थक्रियाकारी सामर्थ्य समाहित होती है– पहली सामर्थ्य वह है जिससे वे (त्रिगुण) विविधता युक्त सूक्ष्म व स्थूल संसार का निर्माण करते हैं तथा दूसरी सामर्थ्य वह है जिससे वे पुरुष के विवेक का आवरण करते हैं। सांख्य–योग दर्शन की अवधारणा के अनुसार विवेक आवरण सामर्थ्य तमस् गुण में सर्वाधिक है, उससे कम रजोगुण में है और सबसे कम सतोगुण में है।

सांख्य–योग दर्शन की संकल्पना में यदि जीवात्मा के स्वरूप को केवल और केवल निष्क्रिय मान लिया जाये तो उसके तार्किक निष्कर्ष सांख्य सिद्धांतों के ही विपरीत होंगे, क्योंकि जब प्रकृति को अचेतन व स्वार्थ रहित माना गया है; तब यह (प्रधान) सभी पुरुषों के लिए निष्पक्ष व सार्वभौमिक भूमिका प्रदान करेगा। इसलिये यहाँ पर तार्किक रूप से यह निष्पत्ति अपरिहार्य होगी कि सभी जीवात्माओं के बंधन, चित्त रूपांतरण व

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कैवल्य क्रमशः समसामयिक (एक ही समय में) होंगे, किन्तु यह सांख्य–योग को कदापि स्वीकार नहीं है। अतः सांख्य–योग के सिध्दांतों में परस्पर तार्किक सुसंगति बनाये रखने हेतु यह स्वीकार करना होगा कि पुरुष का मूल या सहज स्वरूप भले ही निष्क्रिय व निर्गुण हो, किन्तु उसका एक तटस्थ अथवा गौण स्वरूप भी होता है, जिसमें वह स्वार्थी व सक्रिय हो जाता है। साथ ही सांख्य–योग की सैद्धांतिक परिकल्पना के अनुरूप, चेतन–पुरुष के प्रयोजन को पूरा करने हेतु प्रकृति में भी जीवात्मा के सामानान्तर कोई बोध शक्ति होनी चाहिए, क्योंकि बोध सामर्थ्य से रहित सर्वथा अचेतन प्रकृति द्वारा न तो पुरुष के प्रयोजन को समझा जा सकेगा और न ही उसे पूरा किया जा सकेगा। अतः प्रस्तुत आलेख का उद्देश्य सांख्य–योग की सैद्धान्तिकी का उसके मौलिक साहित्य के अनुरुप दार्शनिक अन्वीक्षा करते हुये इसके महत्त्वपूर्ण व गोपनीय पहुलओं को उद्‌घाटित करना है।

तत्त्वमीमांसा

पुरुष और प्रकृति का युगबद्ध अस्तित्व ही सांख्य–योग दर्शन में सामान्य अनुभव का समर्थन करने वाला तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त है। सामान्य अनुभव में दो तरह की सत्ता का आभास होता है, इसीलिए सांख्य दर्शन पुरुष और प्रकृति के रूप में दो आधारभूत तत्त्वों की संकल्पना करता है– "संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्। पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च।। अर्थात्– संहत्यकारी बुद्धयादि पदार्थ (स्वप्रयोजनकारी न होकर) पर अर्थात् अपने से भिन्न के लिए होने से, पुरुष में सत्वादि त्रिगुण का अत्यन्ताभाव रहने से, अधिष्ठेयों का अधिष्ठाता होने से, भोग्यों का भोक्ता होने से तथा कैवल्य –प्राप्त्यर्थ होने से जड़भिन्न चेतन पुरुष की सत्ता सिद्ध होती है।"[4] सांख्य–योग पुरुष और प्रकृति को जीवन व जगत् की पहेली सुलझाने के दो आधारभूत एवं अनिवार्य सिद्धांत के रूप में देखता है। सांख्य दर्शन पुरुष और प्रकृति का युगबद्ध अस्तित्व स्वीकार करता है। यहाँ पर युगबद्ध अस्तित्व का आशय दो पृथक् व विपरीत, परन्तु पूरक स्वभाव वाले तत्त्वों की अविनाभावी सत्ता से है; जिसमें एक तत्त्व का जो मूल स्वभाव है वही दूसरे तत्त्व का तटस्थ स्वभाव होगा। सांख्य–योग दर्शन की अवधारणात्मक परिकल्पना के अनुसार मनुष्य की पूर्णता पुरुष और प्रकृति के युगबद्ध अस्तित्व में ही संभव है, क्योंकि जीवात्मा को अपनी विशिष्टता व पूर्णता के समग्र मूल्यबोध हेतु किसी बाह्य तुलनात्मक माध्यम की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

आवश्यकता होगी। यदि पुरुष की सत्ता के सामानान्तर बाह्य माध्यम के रूप में प्रकृति का अस्तित्व न हो तो जीवात्मा को अपनी पूर्णता व विशिष्टता के मूल्य का तुलनात्मक अर्थबोध संभव नहीं हो सकेगा। परिणामस्वरूप वह पूर्णता व विशिष्टता भी एक प्रकार की अपूर्णता व व्यर्थता में बदल जायेगी। यही कारण है कि सांख्य दर्शन में पुरुष और प्रकृति के युगबद्ध अस्तित्व की अवधारणा अपरिहार्य है। प्रकृति और पुरुष के युगबद्ध अस्तित्व की संकल्पना के अनुरूप सांख्य–योग को दोनों तत्त्वों के स्वरूप में आत्यधिक भेद न मानकर तुलनात्मक विपरीत का भेद ही स्वीकार करना होगा। अर्थात्–जो प्रकृति के स्वरुप में मूलरुप से समाहित है उसे पुरुष के स्वरुप में तटस्थ रूप से स्वीकार करना होगा तथा जो पुरुष के स्वरुप में मूल रुप से समाहित है उसे प्रकृति के स्वरूप में तटस्थ या गौणरुप से स्वीकार करना होगा। यदि पुरुष और प्रकृति के युगबद्ध अस्तित्व को न स्वीकार किया जाये तथा दोनों के स्वभाव में आत्यन्तिक भेद स्वीकारा जाये तो फिर सांख्य की परिकल्पना के अनुरूप सृष्टि प्रक्रिया में इन तत्त्वों का परस्पर सहयोगी होना कदापि संभव नहीं है; क्योंकि दोनों के स्वभाव में कोई समानता न होने से वे परस्पर संवाद नहीं कर सकेंगे। सामान्य अनुभव में दो वस्तुओं या व्यक्तियों के स्वभाव में किसी भी तरह की कोई भी समानता न रहने पर उनमें परस्पर संवाद संभव नहीं देखा जाता है। अतः स्पष्ट है कि सांख्य–योग दर्शन को भले ही दोनों तत्त्वों के अस्तित्वात्मक उपादान में निरपेक्ष पार्थक्यता स्वीकृत हो, किन्तु वह पुरुष व प्रकृति के स्वरूप में निरपेक्ष पार्थक्यता को स्वीकार नहीं कर सकता। इस प्रकार सांख्य–योग में पुरुष व प्रकृति के युगबद्ध अस्तित्व से स्पष्ट होता है कि दोनों तत्त्वों के स्वरूप में मुख्य रूप से असमानताएँ हैं, लेकिन गौण रुप से समानताएँ भी हैं।

सांख्य–योग द्वारा प्रकृति और पुरूष को परस्पर विरोधी तत्त्व कहने का यह तात्पर्य नहीं माना जा सकता है कि जो विशेषता एक तत्त्व के स्वभाव में हो उसका दूसरे तत्त्व के स्वभाव में सर्वथा अभाव ही रहना चाहिए, क्योंकि इस तर्क से तो पुरुष और प्रकृति को समान रुप से सत् भी नहीं कहा जा सकेगा। अतः सांख्य–योग दर्शन पुरुष व प्रकृति में सर्वथा निरपेक्ष पार्थक्यता न स्वीकार करके विपरीत पूरक का विभेद स्वीकार करता हुआ प्रतीत होता है। इसके अनुसार एक तत्त्व की किसी भी स्वभाविक विशिष्टता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

की समग्र भूमिका दूसरे तत्त्व की कोई भी स्वभाविक विशिष्टता की समग्र भूमिका से हुबहु समानता नहीं रखती है; क्योंकि दोनों तत्त्वों की लगभग समान स्वाभाविक विशिष्टताओं में भी तीव्रता (मूल या गौण स्वरूपता) का अंतर अनिवार्य रूप से होगा। युगबद्ध अस्तित्व में एक तत्त्व की विशिष्टता दूसरे तत्व की किसी न किसी विशिष्टता की परस्पर पूरक अवश्य होती है, जैसे प्रकृति में परार्थमूलक व्यक्त सक्रियता को और पुरुष में स्वार्थमूलक अव्यक्त सक्रियता को तुलनात्मक विपरीत तथा परस्पर पूरक स्वभाव के रुप में स्वीकार किया जा सकता है। यहाँ पर सक्रियता तो दोनों तत्त्वों में है, लेकिन पुरुष में सक्रियता गौण रूप से रहने के कारण प्रसवधर्मिता संभव नहीं है तथा प्रकृति में सक्रिय सामार्थ्य मूल या तीव्र रूप से विद्यमान होने के कारण प्रसवधर्मिता संभव है। यही कारण है कि सृष्टि–प्रक्रिया में प्रकृति परार्थी, प्रधान व व्यक्त स्वभाव की भूमिका अपनाती है तथा पुरुष को द्रष्टा, स्वार्थी तथा अव्यक्त स्वभाव की भूमिका निभानी होती है।

सांख्य–योग के अनुसार युगबद्ध अस्तित्व में ही पुरुष और प्रकृति को अपने अस्तित्ववान होने का अर्थ प्राप्त हो सकता है। पुरुष को अपने स्वार्थी व द्रष्टा होने का अर्थ तभी प्राप्त हो सकता है जब समर्थ दृश्य तत्त्व विद्यमान हो। इसी प्रकार दृश्य प्रकृति को अपनें परार्थी व प्रधान होने का अर्थ तभी प्राप्त हो सकता है जब स्वार्थी अथवा द्रष्टा पुरुष विद्यमान हो। यद्यपि सांख्य दर्शन मानववादी मूल्यों को प्राथमिकता देने के कारण एकपक्षीय विवेचना करता है कि पुरुष को अपने स्वभाव के मूल्यबोध हेतु माध्यम के रूप में प्रकृति के अस्तित्ववान होने की अपेक्षा होती है, किन्तु सांख्य के सिद्धान्तों में संशक्तता के अनुरूप अर्थबोध की यही अनिवार्यता प्रकृति के लिए भी है। इस प्रकार पुरुष व प्रकृति का युगबद्ध अस्तित्व दोनों तत्त्वों को अपने स्वभाव का अर्थबोध कराने में सहायक होता हैं। सांख्यतत्त्व–कौमुदी में वाचस्पति मिश्र साख्यकारिका के 21वें श्लोक की व्याख्या कुछ इसी तरह करते हैं–

"पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः।।

अर्थात्– पुरुषस्य और प्रधानस्य दोनों में कर्मणिषष्ठी है। दोनों के लिए कर्ताओं का अध्याहार करना होगा। तब इस प्रकार कहना होगा– प्रधानेनपुरुषः दर्शनार्थम् अपेक्ष्यते, उसी तरह प्रधानम् कैवल्यार्थम् अपेक्ष्यते।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

दर्शनार्थं का अर्थ है–अपने में भोग्यत्व सिद्ध करने के लिए और कैवल्यार्थं का तात्पर्य है–अपनी मोक्ष प्राप्ति के लिए परस्पर एक–दूसरे के लिए वे चाहते हैं। इस प्रकार परस्पर अपेक्षा होने के कारण दोनों का संयोग होता है।"[5]

मूल्य मीमांसा

सांख्य–योगदर्शन की रुचि मानव के चरम मूल्य की सत्यता को खोजने में है, न कि संसार के तटस्थ या तथ्यात्मक सत्य की खोज में है। यशदेव शल्य का कथन है –"वास्तव में सांख्य–दर्शन मूल्य–दर्शन है, क्योंकि उसके अनुसार जगत् की सार्थकता इसलिए है कि वह साक्षी भाव का अनुसंधेय है ।"[6] मनुष्य के मूल्य उसके जीवन को कुशलता प्रदान करने वाले, रचनात्मकता प्रदान करने वाले तथा भविष्य की असुरक्षा से बचाने वाले तथ्यों में निहित होते हैं। यशदेव शल्य के अनुसार "जहाँ एक ओर प्रदत्त स्वभाव को भोगना ही प्रवृत्तियों के आधीन जीवन का स्वभाव है, दूसरी ओर मूल्य मनुष्य जीवन के लक्ष्य हैं, उसकी उपलब्धि है। प्रवृत्ति तो नियत स्वभाव की बार–बार क्षतिपूर्ति मात्र ही करती है, किन्तु उस स्वभाव में अंतर्निहित अभाव को पूरा नहीं करती। मूल्यार्थी पुरुष इस संसारिक अस्तित्व में निरर्थकता का बोध कर भूमा का अनुसंधान करता है।"[7] गोविन्दचन्द्र पाण्डेय ने मूल्य के तात्पर्य को स्पष्ट करते हुए उचित ही कहा है कि "जिस विषय की खोज का विषय होने पर विवेक का समर्थन प्राप्त हो वही मूल्य है।"[8]

चूँकि सांख्य–योग मानववादी दृष्टिकोण रखता है, इसलिए वह चेतन जीवात्मा को साध्य मूल्य प्रदान करता है और जीवात्मा के स्वमूल्य बोध का माध्यम होने से प्रकृति को साधन मूल्य प्रदान करता है। सांख्य–योग दर्शन यह स्वीकार करता है कि जीवात्मा के अस्तित्व वैशिष्ट्य का समस्त अर्थ मात्र स्वयं में घटित नहीं हो सकता है, बल्कि इसके लिए उसे बाह्य तुलनात्मक माध्यम की आवश्यकता होती है। इसी आधार पर सांख्य– योग दर्शन में प्रकृति की महत्ता को स्वीकार किया गया है। सांख्य दर्शन के अनुसार संसार के सृजन व प्रलय में कर्तृत्व व नियामकत्वादि समस्त सक्रिय उपक्रमों का स्वामित्व व्यक्त (प्रकृति) को प्राप्त है, इसीलिए इसको प्रधान भी कहा गया है – सैद्धांतिक रूप से सांख्य दर्शन में अचेतन प्रकृति की जो अवधारणा की गई है वह आधुनिक विज्ञान में अचेतन की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अवधारणा से कई मायनों में पृथक् है। आधुनिक विज्ञान–सम्मत अचेतन पदार्थ बिना किसी पूर्वापेक्षा या प्रयोजन के यंत्रवत् ही अपने स्वभाविक नियमों से क्रियाशील रहता है तथा उसमें संकल्प स्वातंत्र्य व विचार प्रक्रिया निहित नहीं रहती है। सांख्य सम्मत अचेतन तत्त्व पूर्व प्रयोजित ढंग से क्रियाशील होता है, जिसमें संकल्प स्वातंत्र्य, वैचारिक प्रक्रिया व बोधसामर्थ्य निहित होती है। परार्थी स्वभाव होने के कारण प्रकृति को अचेतन कहा गया है और स्वार्थी स्वभाव होने के कारण पुरुष को चेतन कहा गया है। स्वार्थी स्वभाव होने से पुरुष की साध्य मूल्य के रुप में अवधारणा की गई है और परार्थी स्वभाव होने से प्रकृति को साधनमूल्य के रूप में अवधारित किया गया है। इस प्रकार सांख्य–योग और विज्ञान दोनों में अचेतन पद की परिभाषा एक समान अर्थ वाली नहीं है । सांख्य दर्शन के अनुसार अचेतन पद की परिभाषा यही है कि जो अपने स्वार्थ के लिए प्रवृत्त न हो और जिसके समस्त सक्रिय उपक्रम अपने लिए न हो। सांख्य के दार्शनिक सिद्धांतों की परस्पर सुसंगति के अनुरूप प्रकृति की भूमिका को सूक्ष्मता से परखा जाये तो इस अचेतन तत्त्व में विवेक–ख्याति के सामानान्तर स्वार्थ रहित बोध सामर्थ्य (प्रज्ञा) की भी पुष्टि होती है जो कि सांख्यकारिका के निम्न श्लोक से स्पष्ट होता है –"रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः। सैव च पुरूषार्थं प्रतिविमोचयत्येकरूपेण।। अर्थात्, प्रकृति भोगरूप पुरुषार्थ के लिए अपने ही धर्मादि सात रूपों (भाव) के द्वारा स्वयं को पुरूष से बाँधती है और अपवर्ग रूप पुरुषार्थ के लिए अपने ही ज्ञानरूप (भाव) से स्वयं को मुक्त करती है ।"[9]

सत्ख्यातिवाद, सत्कार्यवाद और बंधन–मुक्ति की वास्तविकता

सांख्य–योग की वैचारिकी में सत्कार्यवाद एक केन्द्रीय सिद्धांत है। विभिन्न सांख्यशास्त्रियों में इस बात पर मतभेद है कि सांख्य–योग में जीवात्मा के बंधन तथा कैवल्य को वास्तविक माना गया है या फिर यह जीव पर अविद्या आरोपित मिथ्या आभास मात्र है । कई सांख्यशास्त्रों में उल्लेख भी मिल जाता है कि सांख्य–योग में वास्तविक बंधन व वास्तविक मुक्ति प्रकृति का ही होता है, पुरुष का बंधन–कैवल्य तो आभासिक मात्र है। यहाँ पर ही प्रमुख रूप से सांख्य–योग की आलोचना होती है, क्योंकि एक ओर वह वस्तुवादी दृष्टिकोण रखता है जिससे सत्ख्यातिवाद को स्वीकृत करना पड़ता है, तब यह कैसे कहा जा सकता है कि जीवात्मा के बंधन व कैवल्य

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

का जो आभास होता है वह सत्य नहीं है, क्योंकि सत्ख्यातिवाद के अनुसार तो सत् की ही ख्याति होती है। ऐसे ही सत्कार्यवाद के अनुसार– यदि जीवात्मा के बंधन–कैवल्य को अवास्तविक मानेंगे तो जीवात्मा में मिथ्याबोध (मैं बंधित हूँ) की असत् उत्पत्ति स्वीकार करनी होगी और दूसरी ओर यदि पुरुष–स्वरुप का वास्तविक बंधन मानेंगे तो पुरुष की मुक्ति असंभव हो जायेगी, क्योंकि जब पुरुष–स्वरुप प्रकृति से सच में बंधित हो जायेगा, तब मुक्ति के लिए जीवात्मा की पहल का कोई मतलब ही नहीं रहेगा, इस तरह वह अपनी स्वतंत्रता से अपने मूल स्वरूप में अवस्थित ही नहीं हो सकेगा। परन्तु पुरुष व प्रकृति के युगबद्ध अस्तित्व को सही से समझा जाये तो इस समस्या को सुलझाने का एक तीसरा विकल्प भी हो सकता है, जिसके अनुसार पुरुष का तटस्थ्य स्वरूप बंधित होता है, मूल स्वरूप नहीं। जैसे ही त्रिगुण वैषम्य की आवरण शक्ति जीवात्मा के विवेक को आवरित करके दृश्य–द्रष्टा के भेद ज्ञान को अस्पष्ट या संशयात्मक बना देती है, वैसे ही इस अस्पष्टता को दूर करने के विकल्प की खोज में पुरुष अपने मूल निष्क्रिय, द्रष्टा स्वभाव से विचलित होकर तटस्थ स्वभाव में अवस्थित हो जाता है। किन्तु स्वरूप विस्थापित होकर सक्रिय हो जाने से जीवात्मा को भेद का यथार्थ ज्ञान न होकर, विपरीत ज्ञान का निश्चय हो जाता है। यहाँ पर पुरुष जितना अधिक सक्रिय स्वभाव को अपनाता है उतना ही अधिक विपरीत निश्चय कर लेता है, अर्थात् वह उतना ही अधिक नित्यमुक्त आत्मा में प्रकृति से बंधन अथवा तादात्म्य का निश्चय कर लेता है। यहाँ पर विपरीत निश्चय का आशय मूल स्वभाव से विपरीत का ज्ञान है– जैसे मूलतः असंग पुरुष में सक्रियता, प्रसवधर्मिता, कर्ता, विनाशशीलता, बंधनशीलता, परस्वार्थिता, जड़ता, अज्ञानता व प्रधानता का निश्चय कर लेना और मूलतः सक्रिय प्रकृति में असंगता, स्थिरता, निर्गुणता, निष्क्रियता, अप्रसवधर्मिता, कूटस्थता व स्वार्थी चेतनता का निश्चय कर लेना। डॉ. पवनकुमारी गुप्ता ने पातंजल योगसूत्र नामक ग्रंथ में चित्त की विषयाकार परिणिति के पौरूषेय बोध की व्याख्या हेतु योगवार्तिक का उद्धरण देते हुए विज्ञान भिक्षु के मत 'परस्पर–प्रतिबिम्बवाद' को प्रतिपादित किया है – "विज्ञानभिक्षु का मत है कि बुद्धि एवं पुरुष दोनों की ही विषयाकारिता माननी चाहिए, परन्तु साथ ही दोनों की विषयाकारिता में भेद भी है। वह यह कि चित्त की विषयाकारिता परिणाम रूप है, जबकि पुरुष की प्रतिबिम्ब रूप है (साचार्थाकारताबुद्धौ

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

परिणामरूपा, पुरुषे च प्रतिबिम्ब रूपा। योगवार्तिक, पृ. 22)। इस सम्बंध में विज्ञान भिक्षु का तर्क है कि यदि पुरुष में बुद्धि प्रतिबिम्ब को स्वीकार न किया जाएगा तो यह अनुभव विरूद्ध होगा, क्योंकि उस अवस्था में विभु पुरुष का सर्वदा सब पदार्थों से सम्बन्ध रहने से सबके द्वारा समस्त पदार्थों का ज्ञान मानना होगा। पुरुष नित्य ज्ञानस्वरूप है, इस कारण उसके अज्ञान को भी सभी पदार्थों के सर्वदा ज्ञातृत्व में बाधक नहीं माना जा सकता है। अतः पुरुष की अर्थकारिता को मानना अपरिहार्य है। बुद्धि एवं पुरुष का अनादि कालीन स्वस्वामिभाव सम्बन्ध भी इसी मत को पुष्ट करता है। विज्ञान भिक्षु एक अन्य तर्क प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि यदि चित्त को ही प्रमाता मान लिया गया, जैसा कि उसमें ही पुरुष के प्रमातृत्व मानने पर होगा, तो फिर से पुरुष की सिद्धि ही नहीं हो सकेगी। पौरूषेय बोध स्वयं इस अर्थ को स्पष्ट करता है, क्योंकि प्रतिबिम्ब मिथ्या होने से उसमें बोध नहीं माना जा सकता है।"[10] इस प्रकार से पुरुष के तटस्थ सक्रिय स्वरूपता का कई सांख्य–विद्वानों ने समर्थन किया है।

यद्यपि सांख्य–योग दर्शन में कर्म की स्वतंत्रता और उत्तरदायित्व की न्यायसंगत व्याख्या कठिन प्रतीत होती है तथापि पुरुष और प्रकृति के युगबद्ध अस्तित्व को स्वीकारने पर यह व्याख्या सरल हो जाती है। सांख्य–योग के मतानुसार अपने तटस्थ्य स्वभाव में आकर जीवात्मा, सक्रिय होकर त्रिगुण वैषम्य को प्रभावित करके, प्रधान के कार्यों में समन्वय अथवा लय का बाधक बनता है। इससे प्रधान अपने कर्मों के उस फल को नहीं प्रदान करा पाता है जिसके लिए वह प्रवृत्त हो रहा था; इसीलिए प्रकृति कर्मफल का सारा उत्तरदायित्व जीवात्मा पर डाल देती है, क्योंकि जीवात्मा ने अपना स्वभाव बदल करके प्रकृति को अपनी लय के साथ कार्य नहीं करने दिया है। सांख्य–योग की वैचारिकी के अनुरूप जीवात्मा के अपने मूलद्रष्टा स्वभाव में अवस्थित रहने पर प्रकृति कर्म के फल का उत्तरदायित्व खुद ही उठाती है; पुरुष के जिस फल के भोग हेतु प्रधान की कर्मप्रवृत्ति होती है उसे वह निर्बाधतः अपने ही सामार्थ्य से पूरा कराती है अपने मूल स्वरूप में अवस्थित पुरूष के समक्ष प्रकृति जिन भोग–दृश्यों को उत्पन्न करती है वे समान महत्ता वाले होते हैं, अर्थात्– उन प्रत्येक दृश्य–भोगों से पुरूष को समान मात्रा में आनन्द व शांति प्राप्त होती है। जीवात्मा के द्रष्टा स्वरूप में पूर्णतया अविस्थित न रहने से एक ओर उत्पन्न हुये प्राकृतिक दृश्यों का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

समग्रता से अनुभव नहीं हो पाता यानी प्राकृतिक प्रयोजन पूरा नहीं होता है तो दूसरी ओर त्रिगुण सक्रियता का तारतम्य बिगड़ जाता है। इससे प्रकृति का भी कर्म से नियंत्रण टूट जाता है और प्रकृति कर्म को वांछित (जीव हेतु) अंजाम नहीं दे पाती है। इस प्रकार सांख्य–योग के अनुसार कर्म में जीवात्मा की नकारात्मक भूमिका स्वीकार्य है। इसके कारण प्रकृति के कृत्य–फलों के दुःख को पुरुष द्वारा भोगना न्याय–असंगत नहीं रह जाता है। एतदर्थ जीवात्मा को होने वाला दुःख भी अवास्तविक नहीं है, पुरुष अपने तटस्थ्य स्वरूप में दुःख को वास्तविक रूप से प्राप्त करता है। जीवात्मा को दुःख दो कारणों से होता है –पहला तटस्थ्य स्वभाव के धारण में असहजता होती है और दूसरा प्रकृति के कर्तृत्व में ससंग हो करके त्रिगुण वैषम्य के तारतम्य को बिगाड़ देने के कारण होता है; क्योंकि प्रकृति अपने कर्तृत्व में पुरुष के लिए जिस फल का भोग कराने हेतु प्रवृत्त हो रही थी, जीवात्मा के सक्रिय हस्तक्षेप से उसकी प्राप्ति नहीं हो पाती है । प्रायोजित की प्राप्ति न होना ही दुःख है, जो प्रदान कराया जाना था या जो दिखाया जाना था उसकी उपलब्धि न होना द्रष्टा या भोक्ता के लिए दुःख ही है। सांख्य–योग के अनुसार प्रकृति के स्वरूपतः परार्थी होने से प्रकृति को दुःख नहीं पड़ता है, वह पुरुष पर ही पड़ता है।

जब तटस्थ सक्रिय जीवात्मा अपने सक्रिय होने के विकल्प की व्यर्थता को देख लेता है, अर्थात् विपरीत निश्चिय के विपरीत परिणामों (दुःखों) को जान लेता है तब विवेक अनावरण हेतु प्रकृति की ही प्रधानता (मिलकीयत) को स्वीकार कर लेता है और अपने तटस्थ सक्रिय स्वभाव से सहज निष्क्रिय द्रष्टा स्वभाव में पुनः अवस्थित हो जाता है। वह अपनी स्वार्थ–सक्रियता का परित्याग कर देता है। अपने स्वरूप में अवस्थिति के पश्चात् भी प्रकृति द्वारा विवेक आवरित रहने से जीवात्मा को भेद–ज्ञान में अस्पष्टता या संशयात्मकता बनी रहती है, लेकिन फिर विपरीत निश्चय नहीं होता है। द्रष्टा जीवात्मा जब निम्न विवेक स्तर पर प्रकृति की विविधता को देख लेता है तब प्रधान स्वयं ही त्रिगुण वैषम्य में परिवर्तन लाकर विवेक का धीरे–धीरे अनावरण करती है और अन्ततः कैवल्य (अनावृत विवेक) प्रदान कर देती है। इस प्रक्रिया में प्रकृति के जिन निम्न विवेक स्तर वाले दृश्य–रुपों के पुरुषार्थ रूपी प्रयोजन पूरे हो गये हैं, वे अव्यक्त में लीन होते जाते हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सृष्टिमीमांसा

सांख्य दर्शन के अनुसार दो तत्त्वों से सृष्टि प्रक्रिया सम्पन्न होती है। सृष्टि–प्रक्रिया की ऐसी विवेचना में मानववादी दृष्टिकोण निहित है। उसके अनुसार पुरुष वह तत्त्व है जिसके लिए सृष्टि प्रक्रिया की जाती है और प्रकृति वह तत्त्व है जिसके द्वारा सृष्टि प्रक्रिया सम्पन्न की जाती है। सांख्य दर्शन ने पुरुष को अनेक और प्रकृति एक माना है। अतः सांख्य दर्शन अद्वैत वेदांत के मत का खण्डनकर्ता है –"उपाधिभेदेऽप्येकस्य नानायोग आकाशस्येव घटादिभिः – अर्थात् उपाधि–हेतुक बंध–मोक्ष व्यवस्था होगी, अतएव आत्मा एक ही है– यह कहना संगत नहीं है। यदि आत्मा एक है तो अनेक उपाधियों के साथ उसका योग सदैव है– यह मानना होगा। ठीक वैसे ही जैसे एक घट के भंग होने पर अन्य घट के साथ आत्मा का योग रहता है। इस प्रकार एकात्म मत में बंध–मोक्ष व्यवस्था नहीं बनती।"[11] सांख्य–दर्शन पुरुष व प्रकृति के अस्तित्व सिद्धि हेतु भी युक्तियों की विवेचना करता है। वास्तव में द्रष्टा पुरुष के प्रयोजन की पूर्ति हेतु प्रकृति दृश्य–जगत् का निर्माण करती है। इसलिए कहा जा सकता है कि सांख्य–योग की अवधारणात्मक परिकल्पना में पुरुष को स्वार्थी (चेतन) अस्तित्व के रुप में तथा प्रकृति को मूलतः परार्थी (अचेतन) अस्तित्व के रुप में देखा गया है। क्रिया के साक्षी के रुप में किसी के उपस्थित रहने पर उसकी इच्छा का अनुसरण करता हुआ कर्ता कार्य को सम्पादित करता है, स्वतंत्र होकर नहीं; वैसे ही प्रधान भी साक्षी के रूप में पुरुष की अवस्थिति में सृष्टि कार्य को सम्पादित करता है, स्वतंत्र होकर नहीं।[12]

जैसा कि पहले विवेचित किया जा चुका है कि सांख्य दर्शन को अपने समस्त सिद्धांतों में तार्किक संशक्तता बनाये रखने हेतु प्रकृति व पुरुष के युगबद्ध अस्तित्व को स्वीकार करना अपरिहार्य है। अतः युगबद्ध अस्तित्व की शर्त के अनुसार जो प्रकृति का मूल स्वभाव है वह पुरुष का तटस्थ स्वभाव होगा और जो पुरुष का मूल स्वभाव है वह प्रकृति का तटस्थ स्वभाव होगा; क्योंकि पुरुष और प्रकृति में परस्पर संवाद संभव होने के लिए दोनों में समानता का आधार आवश्यक है। सामान्य अनुभव में दो चीजों या व्यक्तियों के मध्य संवाद संभव करने हेतु दोनों में किसी न किसी रूप में समानता की आवश्यकता देखी जाती है। सांख्य दर्शन में प्रकृति को सृष्टि का अभिन्न निमित्तोपादान कारण माना गया है। पुरुष मूलतः चेतन, निष्क्रिय, निर्गुण व

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

साक्षी द्रष्टा है और प्रकृति मूलतः अचेतन, सक्रिय, त्रिगुण व प्रसवधर्मा है। सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति मुख्यतः तीन प्रकार से सक्रिय हो सकती है। इसे त्रिगुण के रूप में विवेचित किया गया है। त्रैगुण्य की अवधारणा प्रकृति की सक्रियता के तीन अनुशासन या आयाम हैं। "यशदेव शल्य के शब्दों में जगत् में उपलब्ध विभिन्न रुप–गुण–स्वभाव एक ही मूल स्वभाव के विकार हैं, यह मूल स्वभाव (प्रकृति) त्रिआयात्मक हैं।"[13] सांख्य–योग दर्शन के अनुसार जब प्रकृति ज्ञान प्रकाशना या बोध प्रक्रिया के रूप में सक्रिय होती है तो उसे सत्वगुण का नाम दिया जाता है, जब गति के रूप में सक्रिय होती है तो उसे रजोगुण के नाम दिया जाता है और जब संघनित होकर गति अवरोधक के रूप में सक्रिय होती है तब उसे तमसगुण का नाम दिया जाता है। सांख्यकारिका के अनुसार "सत्वगुण ही हल्का तथा प्रकाशक है, रजोगुण को ही चंचल तथा प्रवर्तक माना गया है और तमोगुण को भारी तथा अवरोधक माना गया है। प्रयोजन की सिद्धि के लिए प्रदीप की तरह तीनों गुण मिलकर कार्य करते हैं।"[14] सांख्य–योग के अनुसार त्रैगुण्य में जीवात्मा के विवेक को आवरित करने का सामर्थ्य होता है। तमस् गुण में विवेक आवरण का सामर्थ्य सबसे अधिक है, उससे कम रजोगुण में है और सबसे कम सत्वगुण में है। उपरोक्त तीनों सक्रियताओं या गुणों की सहायता से प्रकृति सृष्टि और प्रलय करती है। प्रकृति के तीनों गुण जब आपस में इस प्रकार अंतःक्रिया करते हैं कि प्रत्येक गुण समान तीव्रता के साथ सक्रिय रहते हैं तो इसे गुणों की साम्यावस्था कहते हैं। यह प्रलय की अवस्था है। लेकिन प्रकृति के तीनों गुण आपस में जब इस प्रकार अंतःक्रिया करते हैं कि एक गुण की सक्रियता शेष दो गुणों की सक्रियता से अधिक प्रबल होती है तो इससे गुणों की साम्यावस्था भंग हो जाती है, जिसे गुणक्षोभ कहा गया है। गुणक्षोभ होते ही अव्यक्त प्रकृति से व्यक्त सृष्टि का सृजन आरंभ हो जाता है। सबसे पहले प्रकृति के सत्वप्रधान अंश से महत् या बुद्धि की उत्पत्ति होती है, बुद्धि से अहंकार पैदा होता है। अहंकार के तामसिक अंश से पंच तन्मात्र बनते हैं। सम्मिलित पंच तन्मात्र और सात्विक अहंकार के आधिक्य का संयोग मन को उत्पन्न करता है। शब्द तन्मात्र और सात्विक अहंकार की प्रबलता के संयोग से श्रोत ज्ञानेन्द्रिय का विकास होता है। इसी तरह शेष तन्मात्राओं के सात्विक अंहकार की प्रबलता से संयोग द्वारा क्रमशः अन्य

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। सम्मिलित पंच तन्मात्राओं में राजसिक अहंकार का वर्चस्व (गति तीव्रता) बढ़ने से पंच प्राणों का विकास होता है। आकाश तन्मात्र में राजसिक अहंकार का वर्चस्व अधिक हो जाने पर वाणी का विकास होता है। इसी तरह रजप्रधान वायु तन्मात्रा से हस्तेन्द्रिय, अग्नि तन्मात्रा से पाद, जल तन्मात्रा से उपस्थ या लिंग और पृथ्वी तन्मात्र से पायु या गुदा का विकास होता है। अंत में तमसप्रधान पंच तन्मात्राओं से क्रमशः पंचमहाभूतों की उत्पत्ति होती है। सांख्य–योग दर्शन की सैद्धांतिक सुसंगति के अनुरूप सृष्टि विकास का यही क्रम उचित बैठता है। सांख्य कारिका के 22 वें श्लोक का भावार्थ है– "मूल प्रकृति से महत् या बुद्धि तत्त्व, महत् से अहंकार और अहंकार से पंच तन्मात्राएँ तथा ग्यारह इंन्द्रियाँ –इन सोलह तत्त्वों का समूह उत्पन्न होता है। इन सोलहों के अंतर्गत आयी हुई पाँच तन्मात्राओं से पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं।"[15]

साधना मीमांसा

सांख्य दर्शन में प्रकृति को सृष्टि व प्रलय की प्रक्रिया का प्रधान कहा गया है, अर्थात् जीवात्मा का बंधन और चित्त रुपांतरण प्रकृति के नियंत्रण में होता है। जैसे ही साम्यावस्था भंग करके जीवात्मा के व्यष्टि केन्द्र को प्रकृति अपने त्रिगुणात्मक अंतःकरण से घेरती है, वैसे ही पुरुष के विवेक का आवरण होने लगता है, जिससे जीवात्मा द्रष्टा और दृश्य में स्पष्ट विभेद नहीं कर पाता है। जब जीवात्मा अपने सहज निष्क्रिय स्वरूप से द्रष्टा और दृश्य का स्पष्ट विभेद नहीं कर पाता है तो उसके समक्ष अज्ञेयता या संशय की स्थिति बनती है। अज्ञेयता या संशय को दूर करने हेतु जीवात्मा तटस्थ्य रूप से सक्रिय हो उठता है और विपरीत सत्य का निश्चय करने लगता है। इससे एतत् का अहं के रूप में ग्रहण होने लगता है। एतत् में अहं का तादात्म्य स्थापित हो जाने के बाद जीवात्मा प्रकृति के कर्तृत्व और भोक्तृत्व रुपी उत्तरदायित्व को भी अपना समझने लगता है और उन्हें पूरा करने का प्रयास करने लगता है। किन्तु पुरुष में प्रकृति जैसा सक्रिय सामार्थ्य न होने के कारण उन्हें नियंत्रित नहीं कर पाता और प्रकृति के नियंत्रण को भी बाधित कर देता है। इससे बुद्धि जिस भोग के लिए क्रियाशील/प्रवृत्तिशील हो रही थी, उसे अंजाम (भोगपूर्ति) तक नहीं पहुंचा पाती। इसलिए बुद्धि में दुःख उत्पन्न होता है, जिसका पूर्व से तादात्म्य रहने के कारण जीवात्मा पर आरोपण हो जाता है (जीवात्मा का द्रष्टा स्वरूप में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अवस्थित न रहने के कारण दृश्य–भोग का अपूर्ण रह जाना भी दुःख का एक कारण है)। "प्रकृति क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहंकार विमूढ़ात्मा कर्ताहमिति मन्यते।। अर्थात् समस्त कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किए जाते हैं, तो भी अहंकार से मोहित हुआ पुरुष मैं कर्ता हूँ ऐसा मान लेता है ।"[16] प्रकृति के कर्तृत्व में जीवात्म–अहं का आरोपण कर लेने से प्रकृति के उत्तरदायित्व व कर्मफल भी पुरुष पर आरोपित हो जाते हैं, जो जीवात्मा के दुःख का कारण बनते हैं। द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः – अर्थात् द्रष्टा और दृश्य का संयोग (तादात्म्य) ही हेयहेतु (दुःख का कारण) है।" साख्य दर्शन के सिद्धांतों के समग्र ज्ञान से जीवात्मा जब प्रकृति की समग्र भूमिका को जान लेता है तो वह प्रधान द्वारा विवेक के आवरण या अनावरण किये जाने पर असहज नहीं होता है और निष्क्रिय साक्षी द्रष्टा स्वभाव में बना रहता है; जिससे प्रकृति के पुरुषार्थ रुपी प्रयोजन निर्बाध या स्वतंत्र रूप से पूरे होने लगते हैं। प्रकृति द्वारा द्रष्टा जीवात्मा के विवेक का आवरण अपनी दृश्य विविधता को भिन्न– भिन्न विवेक स्तरों पर अनुभव कराने के प्रयोजन से किया जाता है। प्रकृति के जिन दृश्य रुपों के पुरुषार्थ रूपी प्रयोजन पूरे हो गये हैं वे अव्यक्त में लीन हो जाते हैं। द्रष्टा जीवात्मा जब निम्न विवेक स्तर पर प्रकृति की विविधता को देख लेता है तब प्रकृति त्रिगुण वैषम्य में परिवर्तन लाकर विवेक का धीरे–धीरे अनावरण करती है। प्रख्याशील चित्त में विवेक आवरण का सामर्थ्य सर्वाधिक है, इसके कम प्रवृत्तिशील चित्त में है और स्थितिशील चित्त का विवेकावरण सामार्थ्य अत्यन्त दुर्बल होता है। जब स्थितिशील चित्त द्वारा जीवात्मा संसार की समस्त सारभूत विविधता को देख लेता है तो प्रकृति उस पुरुष के लिए व्यष्टि रुप से साम्यावस्था बना लेती है और इसी से उसको कैवल्य की उपलब्धि होती है। प्रकृति की उक्त भूमिका के कारण सांख्य–योग में इसे प्रधान कहा गया है – "चूँकि बुद्धि (महत्) पुरुष के लिए सभी प्रकार के भोगों को उपस्थित करती है और वही पुनः (पुरुष को मोक्ष दिलाने के लिए) पुरुष व प्रकृति के सूक्ष्म भेद को भी (विवेक–अनावरण) प्रदान करती है, इसीलिए वह प्रधान (प्रमुख) कही गई है।"[18]

अतः सांख्य–योग दर्शन की साधना के प्रारंभिक चरण में जीवात्मा अपनी पूरी बौद्धिक सक्रियता के साथ (प्रकृति व पुरुष) वास्तविकता का सूक्ष्म सैद्धांतिक ज्ञान हासिल करता है, जिसके निष्कर्ष से पता चलता है कि बुद्धि और विचार प्रक्रिया उसका अभीष्ट सहज या मूल स्वभाव नहीं है। अतः

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सांख्य दर्शन की साधना का अंतिम उद्देश्य जीवात्मा को तटस्थ सक्रिय स्वरूप से परम निष्क्रिय, साक्षी स्वरूप में अवस्थित कराना है। इसलिए योगदर्शन में पौरुषेय चित्तवृत्ति के निरोध, अर्थात् चित्तवृत्तियों के संयमित प्रवाह को ही योग कहा गया है, क्योंकि जब तक जीवात्मा पुरुष की सक्रिय निर्लिप्तता नहीं रहेगी तब तक प्रधान (बुद्धि) द्वारा वृत्तियों का निर्बाध रुप से संयमन नहीं हो सकेगा। तदाद्रष्टुः स्वरुपेऽवस्थानम् – अर्थात् उस अवस्था में द्रष्टा अपने स्वरूप में अवस्थित होता है।[19] सांख्य दर्शन के सैद्धांतिक निष्कर्ष के अनुरूप जीवात्मा को अपने स्वरूप में अवस्थित कराने हेतु योग दर्शन ने वैसी साधना पद्धति को विकसित किया जिसमें एतत् में अहं के संसर्ग का आत्यन्तिक निषेध हो सके। भोक्तृत्व और कर्तृत्व रूपी समस्त प्राकृतिक सक्रियताओं से अहं को आरोपित न होने देना तथा प्राकृतिक प्रज्ञा को स्वतंत्र रूप से कर्तृत्व व भोक्तृत्व के उत्तरदायित्व का निर्वहन करने देना ही योग है। साख्य दर्शन के अनुसार स्वरुप–अवस्थित होने की साधना में जीवात्मा का सैद्धांतिक विमर्श में सक्रिय होना भी अत्यन्त बाधक है। अतः साख्य–योग की साधना–मीमांसा संसारिक दृश्यों में अस्मिता या अहं–भाव के निषेध का उपदेश करती है।

उपसंहार

सांख्य–योग में अपने दार्शनिक सिद्धांतों की अन्वेषणा मानववादी अन्तर्दृष्टि को आधार बनाकर करना आद्वितीय है। यह भी कि पुरुष को जीवन व जगत् की प्रयोजनीयता के केंद्र में रखना अधिक तर्कसंगत व वैज्ञानिक प्रतीत होता है, क्योंकि सत्यान्वेषण का उत्तरदायित्व जीवात्मा पर ही टिका होता है। इसलिए वह जीवात्मा को दुःखमुक्ति के साध्य के रुप में स्वीकार करता है, साधन के रुप में कदापि नहीं। जबकि न्याय–वैशेषिक और मीमांसा दर्शनों में जीवात्मा को ईश्वर अथवा अपूर्व द्वारा सृष्टि उत्पत्ति के साधन के रूप में देखा जाता है। बौद्ध व अद्वैत वेदान्त दर्शन में भी सैद्धांतिक रूप से जीव को दुःखमुक्ति के साधन रूप में स्वीकार किया जाता है, क्योंकि वहाँ पर मुक्ति के पश्चात् जीव के निजी अस्तित्व का लोप हो जाता है। सांख्य–योग दर्शन के लिए ऐसी मुक्ति का कोई मूल्य नहीं है जिसमें मुक्ति के पश्चात् जीवात्मा का वैशिष्ट्य (चैतन्य–वैशिष्ट्य) और उसकी निजता का ही विनाश हो जाए। अतः सांख्य–योग दर्शन का चरम लक्ष्य दुःख–मुक्ति के साथ–साथ जीवात्मा के वैशिष्ट्य का मूल्यबोध भी है। सांख्य–योग दर्शन वस्तुवादी है, वह सामान्य अनुभव का संरक्षण करता है

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

और बाह्यानुभव में आने वाले जगत् की तरह ही आत्मा की सामानान्तर सत्ता स्वीकार करता है। इस दर्शन में प्रत्यक्ष और अनुमान की महत्त्वपूर्ण भूमिका है, शब्द प्रमाण से भी मार्गदर्शन लिया गया है। बौद्धिक युक्तियों के बिना न तो सांख्य–सम्मत सत्यों की खोज संभव थी, न ही उनके बिना सांख्य–योग दर्शन की समझ प्राप्त की जा सकती है।

द्रष्टव्य है कि पुरुष के विवेक का आवरण व अनावरण प्रकृति की पहल से होता है। विवेक का आवरण हो जाने पर जीवात्मा को द्रष्टा और दृश्य के भेद का अस्पष्ट या संशयात्मक (भेदाभेद मिश्रित) बोध होता है। सांख्य–योग दर्शन में विवेक की इस अस्पष्टता या अज्ञेयता को पुरुष के संदर्भ में अविवेक और प्रकृति के संदर्भ में अविद्या कहा जाता है, क्योंकि पुरुष के विवेक का आवरण प्रधान के त्रिगुण की अविद्या नामक सामार्थ्य से होता है। जीवात्मा विवेक की अस्पष्टता या अज्ञेयता को दूर करने के लिए अपने निष्क्रिय द्रष्टा स्वरूप से विचलित हो जाता है और सक्रिय होकर विपरीत सत्य का निश्चय कर लेता है। इस विपरीत निश्चय का स्वरूप एतत् और अहं में अभेद–संसर्ग के आकार में घटित होता है। सांख्य–योग में इसी संयोग को दुख का हेतु कहा गया है– द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः, अर्थात् द्रष्टा और दृश्य में परस्पर संयोग ही हेय (दुःख) का हेतु है। अविद्या को इस अविवेकपूर्ण संयोग का कारण माना गया है– "तस्य हेतुरविद्या", अर्थात् उसका हेतु अविद्या है[20]। योगसूत्र में वर्णित संयोग के स्वरुप से और भी स्पष्ट हो जाता है – स्वस्वामिशक्तयोः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः, अर्थात् संयोग, स्वशक्ति तथा स्वामिशक्ति के स्वरूप की एक साथ (तादात्म्य) उपलब्धि का हेतु है।[21] सांख्यदर्शन के अनुसार जब तक जीवात्मा को प्रकृति की प्रधानता का निश्चय नहीं होता तब तक वह अपने मूल निष्क्रिय द्रष्टा स्वरूप में अवस्थित नहीं होता और तभी तक उक्त संसर्ग भी बना रहता है। जब तक जीवात्मा का प्रकृति के स्वरूप से तादात्म्य बना रहता है तब तक उसके चित्तरुपांतरण की प्रक्रिया सतत नहीं हो पाती हैं, क्योंकि द्रष्टा के स्वरूप में अवस्थित न रहने से दृश्य के विविध रूपों को समग्रता से नहीं देखा जाता है। जीवात्मा के द्रष्टा स्वरूप में अवस्थित रहने पर, जैसे ही प्रकृति के पुरुषार्थ प्रयोजन पूरे होते हैं, वैसे ही प्रधान त्रिगुण–वैषम्य में परिवर्तन द्वारा विवेक का क्रमशः अनावरण करता है। योगदर्शन का श्रेय वैसी ही साधना पद्धति को विकसित करने में है, जिसके द्वारा जीवात्मा को

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रकृति के साथ सक्रिय लिप्तता में पड़ने से रोका जाता है और पुरुष को मूल स्वरूप में निश्चल कराया जाता है।

सांख्य दर्शन के सिद्धांतों में परस्पर सुसंगति के अनुरूप यह अवधारणात्मक परिकल्पना बनती है कि कैवल्य के पश्चात् जीवात्मा अपरोक्ष विवेकानुभूति से अखण्ड दृश्य–समष्टि का साक्षात्कार करता है, किन्तु सभी पुरुषों की मुक्ति हो जाने पर समस्त समष्टि में साम्यावस्था आ जायेगी और तब द्रष्टा के लिए दृश्य की विविधता का अभाव हो जायेगा। अतः इस दृश्य–विविधता के अभाव को दूर करने हेतु प्रधान–प्रकृति पुनः साम्यावस्था को भंग करके जीवात्माओं के विवेक का अध्यारोपण करते हुए सृष्टि के विकास में प्रवृत्त होती है। इस प्रकार प्रकृति व पुरुष अपने युगबद्ध अस्तित्व में परस्पर एक दूसरे के स्वभाव और अपेक्षा की पूर्ति करते हुए सृष्टि–प्रलय का क्रम चलता रहता है।

दर्शनशास्त्र विभाग
डॉ. हरीसिंहगौर विश्वविद्यालय
सागर (म.प्र.) 470003

संदर्भ एवं पाद टिप्पणी

1. *यशदेव शल्य समग्र : मानवीय सर्जना की तत्त्वमीमांसा, खण्ड–4, सम्पादक – अम्बिकादत्त शर्मा, डी.के. प्रिन्टवर्ल्ड प्रा.लि., 2017,पृ. 120–121।*
2. *सांख्यकारिका, ईश्वरकृष्ण, अनुवादक–विमला कर्णाटक, चौखम्भा ओरियन्टालिया, दिल्ली, 2017, पृ. 9, श्लोक–4*
3. *वही, पृ. 16, श्लोक–6*
4. *सांख्यकारिका, ईश्वर कृष्ण, अनुवादक–विमला कर्णाटक, चौखम्भा ओरियन्टालिया, दिल्ली, 2017, पृ. 49, श्लोक–17*
5. *सांख्यतत्त्व–कौमुदी, वाचस्पति मिश्र, अनुवादक–गजाननशास्त्री मुसलगांवकर, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 2021, पृ.172, कारिका–21।*
6. *यशदेव शल्य समग्र : मानवीय सर्जना की तत्त्वमीमांसा, खण्ड–4, सम्पादक – अम्बिकादत्त शर्मा, डी.के.प्रिन्टवर्ल्ड प्रा.लि., 2017, पृ.121*
7. *वही, पृ. 125–26*
8. *मूल्य–मीमांसा, गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर,1973, पृ.30*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

9. सांख्यकारिका, ईश्वर कृष्ण, अनुवादक–विमला कर्णाटक, चौखम्भा ओरियन्टालिया, दिल्ली, 2017, पृ.134–35, श्लोक–63
10. पातंजल योगसूत्र : एक समीक्षात्मक अध्ययन, डॉ. पवन कुमारी गुप्ता, इस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली,1979, पृ. 54–55
11. सांख्य–दर्शन (विज्ञानभिक्षुकृत–साख्यप्रवचनभाष्य–समवेतम्), रामशंकर भट्टाचार्य, भारतीय बुक कार्पोरेशन, दिल्ली, 2022, पृ. 114,सांख्य सूत्र 1/150
12. युक्ति दीपिका, सम्पादक एवं अनुवादक – केदारनाथ त्रिपाठी, सम्पूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1996, पृ. 324–25
13. यशदेव शल्य समग्र : मानवीय सर्जना की तत्त्वमीमांसा, खण्ड–4, सम्पादक – अम्बिकादत्त शर्मा, डी. के. प्रिन्टवर्ल्ड प्रा. लि., 2017, पृ.120
14. सांख्यकारिका, ईश्वरकृष्ण, अनुवादक – रामशंकर त्रिपाठी, प्रकाशक – बालकृष्ण त्रिपाठी, भदैनी, वाराणसी, 1970, पृ. 80, श्लोक–13
15. वही, पृ. 124–25, श्लोक–22 ।
16. श्रीमद्भगवद्गीता, अनुवादक – विवेक चैतन्य, सेन्ट्रल चिन्मय मिशन ट्रस्ट, पृ.168, श्लोक–3/27
17. पातंजल योग प्रदीप, ओमानन्द तीर्थ, गीता प्रेस, गोरखपुर, 2022, पृ. 344, योगसूत्र 2/17
18. सांख्यकारिका, ईश्वर कृष्ण, अनुवादक–विमला कर्णाटक, चौखम्भा ओरियन्टालिया, दिल्ली, 2017, पृ.90–91, श्लोक–37
19. पातंजल योगदर्शन, हरिहरानंद आरण्य, सम्पादक– रामशंकर भट्टाचार्य, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, 1980, पृ.12, योगसूत्र 1/3
20. वही, पृ. 232, योगसूत्र 2/24
21. वही,पृ. 226–227, योगसूत्र 2/23

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पंचदशी के परिप्रेक्ष्य में आत्मतत्त्व का स्वरूप - निरुपण

प्रदीप कुमार खरे एवं नवीन दीक्षित

इस आलेख में अद्वैत वेदांतदर्शन के प्रतिष्ठित आचार्य स्वामी विद्यारण्य के ग्रंथ पंचदशी के विशेष परिप्रेक्ष्य में आत्मतत्त्व के स्वरूप–निरुपण का प्रयास किया गया है। स्वामी विद्यारण्य कृत पंचदशी अद्वैत वेदांत का एक प्रतिष्ठित ग्रंथ है। हम सर्वप्रथम स्वामी विद्यारण्य द्वारा आत्मतत्त्व के सच्चिदानंद स्वरूप की प्रतिष्ठापना हेतु प्रयुक्त प्रविधि का उल्लेख करेंगे। तदुपरांत आत्मतत्त्व के स्वरूप–निर्धारण में तर्क की भूमिका एवं स्थान का विश्लेषण अभिप्रेत होगा। इस संदर्भ में वेदों के प्रामाण्य पर भी विचार किया गया है। स्वामी विद्यारण्य के मतानुसार आत्मतत्त्व का स्वरूप सच्चिदानंद (सत्–चित्–आनंद) है। 'सत्' के सम्बंध में स्वामी विद्यारण्य का मत यह है कि आत्मा ही वह अधिष्ठान है, जिस पर बाकी सब कुछ निर्भर है। अनुभव की विभिन्न अवस्थाओं में आत्मा अपरिवर्तनशील रहती है, जबकि विषय परिवर्तित होते रहते हैं। पंचकोष–विवेक से भी यही निष्कर्ष प्राप्त होता है। स्वामी विद्यारण्य ने 'सत्' एवं 'असत्' का विवेक पंचदशी के प्रथम पाँच अध्यायों में किया है। 'चित्' (चैतन्य) के सम्बंध में पंचदशी का मत यह है कि आत्मा का स्वरूप शुद्ध चैतन्य है। स्वामी विद्यारण्य ने इस कूटस्थ आत्मा के शुद्ध चैतन्य स्वरूप का विभिन्न उपमाओं के द्वारा वर्णन किया है। आत्मा का स्वरूप केवल 'सत्' एवं 'चित्' (चैतन्य) ही नहीं है, वरन् वह शुद्ध आनंद स्वरूप भी है। अतएव आत्मा का स्वरूप सत्, चित् एवं आनंद है। वस्तुतः ये तीनों अलग–अलग घटक नहीं हैं। सारभूत तत्त्व के समान हैं और एक हैं। इस प्रकार प्रकृत प्रसंग में हमारा मुख्य उद्देश्य आत्मा के सत्, चित् एवं आनंदस्वरूप पर विचार करना है। इसके साथ ही व्यावहारिक आत्मा (जीव) के स्वरूप, जगत्, तथा जीवन्मुक्ति पर भी संक्षेप में विचार किया गया है।

उन्मीलन – वर्ष 37, अंक 2, जुलाई–दिसम्बर 2024
ISSN-0974-0053
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, SI.No. 310

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पंचदशी ग्रंथ का मुख्य प्रयोजन आध्यात्मिक साधकों को दिशा–निर्देश प्रदान करना है। ग्रंथ के आरंभ से ही उसका यह आध्यात्मिक दृष्टिकोण प्रदर्शित हो जाता है। स्वामी विद्यारण्य के अग्रलिखित कथन द्रष्टव्य हैं : "श्री गुरू के चरणारविन्दों की सेवा से निर्मल बुद्धियों को सुखपूर्वक बोध के लिए यह तत्त्व का विवेक करते हैं (तत्पादाम्बुरुहद्वंद्वसेवा निर्मलचेतसाम्। सुखबोधाय तत्त्वस्य विवेकाऽयं विधीयते।।)।"[1] यद्यपि अद्वैत वेदांत के अनुयायियों को दिशा निर्देश देने का कार्य यह ग्रंथ करता है तथापि तर्क एवं विचार भी इसमें अंतनिर्हित हैं। अन्वय (एक वस्तु के होने से दूसरी वस्तु का होना) एवं व्यतिरेक (एक वस्तु के न होने पर दूसरी वस्तु का न होना) पर इसका तर्क आधारित है। स्वामी विद्यारण्य ने माध्यमिक बौद्धों की द्वन्द्वात्मक पद्धति और इस पद्धति पर शंकराचार्य के विचार का भी उल्लेख किया है। पंचदशी (2.30) में कहा गया है कि "भगवान् पूज्यपाद श्री शंकराचार्य ने भी शुष्क तर्क–कुशल इन शून्यवादी बौद्धों को, अचिन्त्य इस सदात्मा के विषय में, सदा भ्रम में रहने वाला बताया है (भगवत्पूज्यपादाश्च शुष्कतर्कपटूनमून्। आहुर्माध्यमिकान्भ्रान्तानचिन्त्येऽस्मिन सदात्मनि।।)।"[2] शास्त्र के मर्म को समझने की दिशा में सहायक सुतार्किक विचार सदैव स्वागत योग्य होते हैं, परन्तु खाली तर्क से बचना चाहिए। इस संबंध में पंचदशी के निम्नलिखित कथन प्रासंगिक हैं :"हम तो यहाँ केवल श्रुति के अर्थ को विशद कर रहे हैं। तर्क के सहारे कुछ नहीं कर रहे हैं। इस स्थिति में तार्किकों की शंका का यहाँ कौन अवसर है, अर्थात् नहीं है (श्रुत्यर्थं विशदीकुर्मो न तर्काद्वच्मि किञ्चन। तेनतार्किकशंकानामत्र कोऽवसरोवद।।)।"[3] स्वामी विद्यारण्य के अनुसार अनुभूति मुख्य और तर्कगौण है। तर्क को अनुभूति का अनुगमन करना चाहिए। चूँकि शास्त्र ऋषियों की अनुभूतियाँ हैं, इसलिए इनकी प्रामाणिकता स्वतः सिद्ध है। तर्क को इन वेदांत–वाक्यों पर आश्रित होना चाहिए। स्वामी विद्यारण्य का यह दृष्टिकोण ब्रह्मसूत्र (2.1.11) के समान ही है, जो यह सूचित करता है कि "तर्क अप्रतिष्ठित होते हैं (तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति)।"[4] अतएव तर्क की कोई स्वतंत्र प्रामाणिकता नहीं है। शंकराचार्य भी यही निर्देशित करते हुए कहते हैं कि "शास्त्रों से स्वतंत्र केवल तर्कों के माध्यम से किसी भी निष्कर्ष तक नहीं पहुँचा जा सकता है।"[5] पूर्वोक्त सूत्र के अपने भाष्य में शंकराचार्य ने मनुस्मृति को भी उद्धृत किया है, जिसके अनुसार "अधिकार (प्रामाणिकता) के सम्बंध

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

में स्पष्टता चाहने वाले को विभिन्न परम्पराओं के अनुसार प्रत्यक्ष, अनुमान और शास्त्र के इस त्रितत्त्व को अच्छे से जानना चाहिए। वेद एवं स्मृति के अविरूद्ध जो तर्क का प्रयोग करता है, वही स्मृति को जानता है, अन्य कोई नहीं।"[6] इसके समर्थन में पंचदशी (8.68) का यह वक्तव्य उद्धृत किये जाने के योग्य है : "मुमुक्षु पुरुष कुतर्क को त्यागकर श्रुति का आश्रय लिया करते हैं (तस्मात्कुतर्कं सन्त्यज्य मुमुक्षुः श्रुतिमाश्रयेत्)।"[7]

जब यह कहा जाता है कि वेदांत के लिए शास्त्र मूलभूत प्रमाण है, तो इसका यह अर्थ नहीं कि वेदांती 'शब्द भारवाही' या 'कट्टरपंथी' हैं। उसकी इस प्रवृत्ति को वेद–वचनों में अंध–स्वीकृति या अविचारित विश्वास नहीं समझ लेना है। शास्त्र की शिक्षा को समझने के लिए तर्क की आवश्यकता है। परमतत्त्व को पकड़ने में तर्क की तब तक निषेधात्मक रूप से उपयोगी भूमिका है, जब तक कि यह हमें जो सत् नहीं है उसका निश्चय कराता है और भाषा का कार्य सत्य की ओर संकेत करना है। अनुभूति मुख्य है और स्वयमेव ही जिज्ञासा का फल है। शास्त्र ऐसी ही अनुभूति के संकेतक हैं। इस प्रकार, वेदांतदर्शन में 'सत्' के स्वरूप का प्रतिपादन श्रुति, युक्ति एवं अनुभूति (श्रुतियुक्त्यनुभूतिभ्यः)[8] के त्रि–आयामी आधार पर होता है। बौद्धिक विमर्श या युक्ति से हम मिथ्याज्ञान से निवृत्त होते हैं और आत्मा के सत्य ज्ञान पर पहुँच सकते हैं। स्वामी अभेदानंद ने इस तार्किक प्रक्रिया पर निम्नलिखित शब्दों में जोर दिया है : हमें ज्ञात होता है कि विचार ही प्रथम उपाय है जो सम्यक्–दर्शन की प्राप्ति में सहायता करता है। सर्वप्रथम, विचार से अविद्या दूर होती है और फिर शुद्ध ब्रह्म के ज्ञान की पुनर्प्राप्ति होती है।[9]

स्वामी विद्यारण्य के अनुसार 'सत्' के ज्ञान के लिए विवेक की आवश्यकता है। एक जिज्ञासु को अपने अंदर ऐसा मौलिक कौशल विकसित करना चाहिए ताकि वह 'सत्' को 'असत्' से पृथक् करने की योग्यता प्राप्त कर सके। पंचदशी में ऐसी बहुत सी विधियों का निर्देश किया गया है, जिनके उपाय से सत् और असत् के मध्य का यह भेद किया जा सकता है। अनुभव की तीन अवस्थाओं यथा जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति का विश्लेषण इस संदर्भ में बहुत उपयोगी विधि है। ऐसे विश्लेषण से व्यक्ति को अनुभव होता है कि आत्मा सभी अवस्थाओं में उपस्थित रहती है, जबकि विषय अस्थिर एवं परिवर्तित होते रहते हैं। पंचदशी का यह कथन द्रष्टव्य है : "जाग्रत और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

स्वप्न अवस्थाओं के विषयों का जो ज्ञान है, वह एक रूप होने से भिन्न–भिन्न नहीं है (तत्भेदोऽतस्तयोः संविदेकरूपा न भिद्यते)।"[10] देश और काल इसमें कोई भेद नहीं करते हैं। विषयों का बहुत्व आत्मा में कोई भी खण्ड नहीं करता है। इसकी स्वयं प्रकाशता के कारण ही इसे 'परमसत्' माना जाता है। बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार आत्मा "सभी ज्योतियों की अमरज्योति है (ज्योतिषां ज्योतिऽमृतम्)।"[11] यह स्वप्रकाश चैतन्य ही समस्त अनुभव का अधिष्ठान है। अतएव इसका कोई आदि और अंत नहीं है या दूसरे शब्दों में यह नित्य है। इसके अतिरिक्त पंचदशी यह घोषणा करती है कि "यह (आत्मा) न तो उदित होती है और न ही अस्त होती है (नोदेति नास्तमेत्येका संविदेषा स्वयंप्रभा)।"[12]

पंचकोष–विवेक से भी यही निष्कर्ष प्राप्त होता है। इन पाँच कोषों ने आत्मा को आवृत्त कर दिया है। ये पाँच कोष अग्रलिखित हैं : अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष और आनंदमय कोष। आत्मा परमसत् है। परन्तु, यह निष्कर्ष कैसे प्राप्त होता है ? प्रो. टी. एम. पी. महादेवन इस पर निम्नलिखित शब्दों में प्रकाश डालते हैं : "जो सिद्धांत यहाँ प्रयुक्त किया गया है, वह यह है कि जो कुछ भी अधिक स्थूल, बाह्य और कम व्याप्त है; वह जो कुछ भी सूक्ष्म, आंतरिक और अधिक व्याप्त है; उससे कम वास्तविक है। इस सिद्धांत को प्रयुक्त करके व्यक्ति इस सत्य तक पहुँचता है कि आत्मा परमसत् है, क्योंकि यह सूक्ष्मतम, अंतरतम एवं अद्वैत है।"[13] स्वामी विद्यारण्य ने इस विश्लेषण की पद्धति को निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया है : "जैसे युक्ति के द्वारा मूँज (तृण विशेष) में से इषीका (गर्भ के कोमलतृण रूप) को निकाल लेते हैं। ऐसे ही धीर पुरुष तीनों शरीरों से आत्मा को पृथक् कर लेते हैं और पृथक् किया वह परब्रह्म रूप हो जाता है।"[14] जिस प्रकार मूँज नाम के तृण (तिनके या घास) से गर्भ के कोमलतृण रूप इषीका को युक्ति से पत्तों को अलग करके निकाल लेते हैं, उसी प्रकार अन्वय–व्यतिरेक रूप उपाय से पूर्वोक्त तीनों शरीरों से आत्मा को निकाल लेते हैं, अर्थात् अलग जान लेते हैं और फिर वह पृथक् किया हुआ जीवात्मा ब्रह्मरूप ही हो जाता है। विवेक की इस प्रक्रिया को बाह्य वस्तुजगत् तक भी बढ़ाते हैं। इस प्रकार अपरिवर्तनशीलता के पदों में आत्म रूप सत् की सिद्धि हो जाती है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

द्वितीयतः आत्मा का स्वरूप शुद्ध चैतन्य है। यह कभी मंद नहीं होने वाला प्रकाश है और सदा रहने वाली चेतना या ज्ञान है। यह न तो उदित होता है और न ही अस्त होता है। यह स्वप्रकाश होने से अद्वैत है (नोदेति नास्तमेत्येकासंविदेषा स्वयंप्रभा)।"[15] पंचदशी ने इस साक्षी–चैतन्य और अपरिवर्तनीय चैतन्य का 'कूटस्थ' के रूप में उल्लेख किया है। स्वामी विद्यारण्य ने इसकी व्याख्या के लिए एक उपमा प्रयुक्त की है। जैसे लुहार की दुकान में निहाई का अपना रूप बदले बिना, धातु को विभिन्न रूप देने के लिए उपयोग किया जाता है, उसी प्रकार आत्मा भौतिक और मानसिक जगत् के परिवर्तनों का कूटस्थ साक्षी बनी रहती है। इसलिए इसे 'कूटस्थ' कहा जाता है। किसी रंगमंच का दीपक जैसे बिना घूमे और अभिनेताओं और दर्शकों की गतिविधियों से बिना प्रभावित हुए प्रकाशित होता है, उसी प्रकार साक्षी चैतन्य जो नित्य एवं कूटस्थ है, भीतर और बाहर की वस्तुओं को अभिव्यक्त करता है तथा साथ ही वह उन वस्तुओं के अभाव को भी अभिव्यक्त करता है। पंचदशी के छठवें अध्याय 'चित्रदीप'में कूटस्थ की एक चित्रपट से तुलना की गई है, जिस पर जगत् का चित्र चित्रित है। जैसे चित्रपट पर विभिन्न चित्रित आकृतियाँ आभासित होते हैं, ठीक वैसे ही कूटस्थ चैतन्य रूपी आत्मा पर वैचित्र्यपूर्ण जगत् आभासित होता है। चैतन्य को नकारा नहीं जा सकता है। आधार के चित्रपट को भी हटाया नहीं जा सकता है। चैतन्य कभी भी अपने अभाव का अनुभव नहीं करता है। अतएव चैतन्य नित्य है। यहाँ पंचदशी को उद्धृत किया जा सकता है : "चैतन्य नित्य है, इसके अभाव का कभी भी अनुभव नहीं होता है। किंतु द्वैत की अभिव्यक्ति के पूर्व द्वैत के अभाव का चैतन्य अनुभव करता है (प्रागभावो नानुभूतश्चितेर्नित्या ततश्चितः। द्वैतस्य प्रागभावस्तु चैतन्येनानुभूयते)।"[16] चूँकि नित्य कहलाने के लिए इसका किसी भी काल में अभाव नहीं होना चाहिए। अतः भगवद्गीता में इसे प्रभावी रूप से प्रस्तुत किया गया है : "जिसका अस्तित्व नहीं है, उसका अस्तित्व हो नहीं सकता; और जिसका अस्तित्व है, उसका अस्तित्व मिट नहीं सकता (नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः)।"[17] इसके अतिरिक्त सुषुप्ति में द्वैत का अस्तित्व वैसे ही नहीं होता है जैसे घट के निर्माण के पूर्व मिट्टी में इसका अस्तित्व नहीं रहता है। चैतन्य रूप होने से आत्मा कभी भी अपने अभाव का अनुभव नहीं करती है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अंततः पंचदशी के अंतिम पाँच अध्यायों में आत्मा के आनंद–स्वरूप की विशद रूप से व्याख्या की गई है। आत्मा केवल 'सत्' एवं 'चित्' स्वरूप ही नहीं है, वरन् वह'आनंद' स्वरूप भी है। आत्मा के आनंद का ही विषयों के सुख या तृप्ति में प्रतिरूप दिखाई पड़ता है। मन और विषयों के संबंध से निःसृत सुख का सम्यक् ज्ञान ही ब्रह्मानंद के प्रवेश द्वार का कार्य कर सकता है। जब किसी विषय–सुख का भोग किया जाता है, तब मन अंतर्मुखी होकर शांत हो जाता है। मन की इस अवस्था में आनंद स्वरूप आत्मा का आनंद प्रदर्शित होता है। यह सुख या तृप्ति का भोग है। ब्रह्मानंद या इसके प्रतिरूप का अन्य अवस्थाओं में भी अनुभव होता है। सुषुप्ति या प्रगाढ़ निद्रा की अवस्था में व्यक्ति अव्यक्त आनंद का अनुभव करता है, किंतु यह अनुभव अविद्या के आवरण से ढका रहता है। सुषुप्ति में जाने के ठीक पूर्व व्यक्ति को इस सुख का अनुभव होता है। अंतःकरण की दो वृत्तियों के अंतराल के मध्य में भी व्यक्ति को इस आनंद की छवि का अनुभव होता है। योगी को समाधि में आनंद का अनुभव होता है। ज्ञानी अपरोक्षतः ही आत्मानंद का साक्षात्कार करता है। बृहदारण्यक उपनिषद् (4.4.12) के निम्नलिखित कथन को यहाँ उद्धृत करना उपयुक्त है : "यदि पुरुष आत्मा को 'मैं यह हूँ' इस प्रकार विशेष रूप से जान जाय तो फिर क्या इच्छा करता हुआ और किस कामना से शरीर के पीछे संतप्त हो ?"[18] इसका सार यह है कि आत्मज्ञानवान् व्यक्ति उसके परिच्छिन्न उपाधियों (सूक्ष्म–कारण देहादि) द्वारा निर्मित दुःखों का अनुगमन करके दुःखी नहीं होता है। अब, यह कैसे कहा जा सकता है कि ब्रह्म–आनंद है ? स्वामी विद्यारण्य निम्नलिखित रीति से इसका उत्तर देते हैं : "आनंद से भूत पैदा होते हैं, आनंद के द्वारा जीवित रहते हैं और आनंद में ही लय होते हैं, इससे वह ब्रह्मानंद है, इसमें संशय नहीं करना है।"[19] इसके अधिक विवेचन के लिए तैत्तिरीय उपनिषद् (3.6.1 एवं 2.7.1) को उद्धृत किया जा सकता है : "भौतिक रूप से जुड़ने से जो आनंद प्राप्त होता है, वह 'उत्पत्ति' का कारण है, जागतिक विषयों से जो आनंद मिलता है, वह 'स्थिति' का कारण है और निद्रा में जिस आनंद की प्राप्ति होती है वह 'लय' का कारण है।" पंचदशी (11.87) के अनुसार जगत् में केवल तीन प्रकार के आनंद का अनुभव होता है : "प्रथम, ब्रह्मानंद जो ब्रह्म का आनंद; द्वितीय, वासनानंद जो ब्रह्मानंद के संस्कारों से शांत मन में उत्पन्न हुआ आनंद और तृतीय, विषयानंद जो विषयों के संयोग होने पर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इच्छा की पूर्ति होने से प्राप्त हुआ आनंद।" आनंद स्वरूप में स्थित होने के लिए अन्तःकरण की शुद्धि आवश्यक है। पंचदशी (11.118) एवं छांदोग्य उपनिषद् इस बात को निम्नलिखित शब्दों में प्रस्तुत करते हैं : "चित्त की परिशुद्धता से शुभ–अशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं, प्रसन्न चित्तवाला अपने स्वरूप में स्थित होकर अक्षय सुख को प्राप्त करता है।"[20] पंचदशी (12.72) के समान ही तैत्तिरीय उपनिषद् (2.8.1) में एक मनुष्य, एक राजा, और हिरण्य गर्भ के द्वारा भोगे गए सुख की कोटियों का उल्लेख किया गया है। अब एक शंका उत्पन्न होती है कि यदि आत्मा का स्वरूप आनंद और चैतन्य दोनों ही है तो अंतःकरण की सभी वृत्तियों में जैसे चेतना या ज्ञान उपस्थित रहता है; क्या आनंद को भी उन सभी अंतःकरण वृत्तियों में उपस्थित नहीं रहना चाहिए? इसका उत्तर निम्नवत् है : "ऐसी शंका मत करो, क्योंकि किसी कमरे में जलते हुए दीपक में प्रकाश और उष्णता दोनों होती है, किंतु कमरे में केवल प्रकाश व्याप्त होता है, उष्णता नहीं। इसी प्रकार वृत्तियों में केवल चैतन्य ही अनुवृत्त रहता है, आनंद नहीं।"[21] इस प्रकार सभी अनुभवों में चैतन्य उपस्थित रहता है, किंतु आनंद नहीं।

वस्तुतः स्वामी विद्यारण्य ने ब्रह्मानंद की प्राप्ति के क्रम में पंचदशी के अंतिम पाँच अध्यायों में पाँच उपायों का उल्लेख किया है। पंचदशी का ग्यारहवाँ अध्याय, योगी की अपरोक्षानुभूति के द्वारा ब्रह्मानंद की प्राप्ति का वर्णन करता है। पंचदशी (11.104) में योग की प्रक्रिया और इसकी सिद्धि का उल्लेख करते हुए भगवद्गीता (6.20) को इस प्रकार उद्धत किया गया है : "योग के अभ्यास से निरूद्ध चित्त जिस अवस्था में शांत हो जाता है, उसमें वह आत्मा के द्वारा आत्मा को देखता है और आत्मा में आनंद प्राप्त करता है।"[22] पंचदशी के बारहवें अध्याय में आत्मानंद के द्वारा ब्रह्मानंद की अनुभूति का वर्णन किया गया है। इसे समझाने के लिए स्वामी विद्यारण्य बृहदारण्यक उपनिषद् से इस प्रकार उद्धरण देते हैं : "जो व्यक्ति साक्षी स्वरूप आत्मा को ही सर्वोत्तम प्रेमास्पद मानकर भजता है, उसका प्रिय माना हुआ यह आत्मा कभी भी विनष्ट नहीं होता है।"[23] पंचदशी के तेरहवें अध्याय में उल्लेख किया गया है कि जगत् की अनित्यता पर ध्यान करने से अद्वैतानंद में ब्रह्मानंद की प्राप्ति होती है। व्यक्त अवस्था की अनित्यता का पंचदशीकार ने इस प्रकार वर्णन किया है : "जो पदार्थ सृष्टि के पूर्व में अस्तित्त्व में नहीं रहता तथा सृष्टि के लय के बाद अस्तित्त्व में नहीं रहता वह

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

वर्तमान में भी अस्तित्त्व में नहीं रहता है।"[24] भगवद्गीता भी यह प्रतिष्ठापित करती है कि व्यक्त अवस्था केवल व्यावहारिक है–"हे भारत! सभी प्राणी जन्म से पहले अप्रकट थे और मरने के बाद अप्रकट हो जायँगे, केवल बीच में ही प्रकट दिखते हैं। अतः इसमें शोक करने की बात ही क्या है ?"[25] पंचदशी के चौदहवें अध्याय में 'विद्यानंद' की चर्चा की गई है। ब्रह्म के ज्ञान से उत्पन्न होने वाला आनंद, बुद्धि की एक वृत्ति है। विद्यानंद के चार पहलू हैं : दुःख का अभाव; इच्छाओं की पूर्ति; यह अनुभूति कि 'मुझे जो कुछ करना था, वह सब मैंने कर लिया है'; और यह अनुभूति कि 'मुझे जो कुछ प्राप्त करना था, वह सब मैंने प्राप्त कर लिया है।' स्थूल एवं सूक्ष्म देहों के दुःखों का स्रोतकारण शरीर के दुःख हैं। कारण शरीर के दुःखों का कारण 'अविद्या' है। इन दुःखों की निवृत्ति के लिए आत्मज्ञान आवश्यक है। पंद्रहवें अध्याय में, 'विषयानंद से ब्रह्मानंद' का वर्णन किया गया है। इसका उद्देश्य विषयों से संयुक्त ब्रह्म पर ध्यान केंद्रित करना है। जब अंतःकरण भोगों से कुछ संतुष्ट हो जाता है, तो अंतःकरण की पकड़ कुछ ढीली पड़ जाती है और फिर उच्चतर आनंद की अनुभूति होती है। अंतःकरण की इन विषयों से उदासीन अवस्था पर ध्यान केंद्रित करना श्रेयस्कर है, क्योंकि वहाँ ब्रह्मानंद का संस्कार प्रकाशित होता है। स्वामी विद्यारण्य ने इसे निम्नलिखित रूप से प्रस्तुत किया है : "उदासीन दशा में अंतःकरण की वृत्ति शिथिल हो जाती है, इसलिए वासनानंद में ध्यान सर्वोत्कृष्ट माना जाता है।"[26]

ब्रह्मन् या आत्मन् जो कि आत्मा है; उसका स्वरूप सत्, चित् और आनंद है। वे पृथक् घटक नहीं हैं। सत्; चित् और आनंद ब्रह्म के अंश नहीं हैं, न ही वे गुण हैं; वे ब्रह्म–स्वरूप हैं। ब्रह्म में किसी प्रकार का भी भेद नहीं है। उसमें सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद नहीं है।[27] एक परम महत्त्व का मूलभूत प्रश्न यह है : एक ही सत् जगत् के नानात्व के रूप में क्यों दिखाई देता है? इस प्रश्न के संदर्भ में ही माया की संकल्पना का निर्माण किया गया है। स्वामी विद्यारण्य के अनुसार तीन दृष्टिकोणों से माया के सिद्धांत को देखा जा सकता है : सामान्य लोगों के दृष्टिकोण से माया वास्तविक (वास्तवी) है। जो लोग माया को युक्ति के द्वारा समझना चाहते हैं, उनके लिए माया अनिर्वचनीय है और जिन लोगों ने शास्त्रों की शिक्षा की अनुभूति कर ली है, उन लोगों के लिए माया अवास्तविक (तुच्छ) है।[28] अविद्या के कारण अद्वैत आत्मतत्त्व सीमित और अंतःकरण की उपाधि से युक्त जीव

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

के रूप में प्रतीत होता है। अहंकार आदि उपाधि से युक्त इसका अपने कर्मों के अनुसार एक से दूसरे भौतिक देह में संसरण होता है। आध्यात्मिक साधनाओं के द्वारा यह पूर्णता की प्राप्ति करता है। यह आत्मा के साथ अपने अभेद की अनुभूति करता है।

वास्तव में अद्वैत वेदांत के अनुसार मुक्ति का सीधा साधन ज्ञानमार्ग है। पंचदशी ग्रंथ में एकाधिक स्थलों पर ब्रह्मानुभूति की अवस्था का ज्वलंत पदों में वर्णन किया गया है, और जीवन्मुक्त पुरुष के अतुलनीय आनंद की प्रशंसा की गई है। इसी जन्म में परमात्मा की अनुभूति करने वाले व्यक्ति को जीवन्मुक्त कहते हैं। स्वामी विद्यारण्य ने जीवन्मुक्त की संकल्पना की बहुत विशद व्याख्या की है। उनका निम्नलिखित कथन द्रष्टव्य हैं : "मैं (जीवन्मुक्त) संसार के बंधनों से मुक्त हूँ, मैं अज्ञान की बेड़ियों से भी स्वतंत्र हो गया हूँ, और इसलिए मैं आनंदित हूँ। मेरा किसी के प्रति कोई कर्त्तव्य शेष नहीं है, मैंने परम लक्ष्य प्राप्त कर लिया है, जिसके लिए मैं इतने दीर्घकाल से साधना कर रहा था, और इसलिए मैं आनंदित हूँ।"[29] जो कोई भी यह अनुभूति प्राप्त कर लेता है, वह इसी जीवन में नित्य मुक्त हो जाता है। वह ब्रह्म के साथ एक हो जाता है। वह फिर कभी माया या अज्ञान के बंधन में नहीं आता है। तब फिर वह अपने मन, देह और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के साक्षी या द्रष्टा के रूप में व्यवहार करता है। जब कोई व्यक्ति ब्रह्म के स्वप्रकाश की अनुभूति करता है, तब उस समय ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की त्रिपुटी तिरोहित हो जाती है। इस परमावस्था को भूमानंद के रूप में परिभाषित किया गया है।

स्वामी विद्यारण्य ने जीवन्मुक्ति का अभिप्राय अग्रलिखित शब्दों में अभिव्यक्त किया है : "व्यक्ति अपने जीवन में मन के माध्यम से सुख एवं दुःख का अनुभव करते हुए अपने आपको सभी कर्मों का कर्ता एवं भोक्ता समझने लगता है; उसके जीवन की यही आसक्तियाँ उसके बंधन और इन बंधनों से मुक्ति ही मोक्ष है (जीवतः पुरुषस्य कर्तृत्व भोक्तृत्व सुखदुःखादि लक्षणश्चित्तधर्मः क्लेशरूपत्वाद्बन्धोभवति, तस्य निवारणं जीवन्मुक्तिः)।"[30] व्यक्ति के प्रारब्ध कर्म प्रबल होते हैं, किंतु जीवन्मुक्ति में पुरुषार्थ की भूमिका ही मुख्य है। योग वाशिष्ट (9.24) शाश्वत् आनंद या जीवन्मुक्ति के लिए पुरुषार्थ की भूमिका को बहुत महत्त्व देता है। योगाभ्यास से वासनाओं का निरोध होता है और जीवन्मुक्ति की अवस्था की प्राप्ति होती है। इसलिए

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

मानवीय प्रयत्न का महत्त्व है। जीवन्मुक्त पुरुष के स्वरूप पर बृहदारण्यक उपनिषद् इन शब्दों में प्रकाश डालता है :

"जब व्यक्ति के हृदय में स्थित समस्त इच्छाएँ नष्ट हो जाती हैं, तब वह मर्त्य होकर भी अमर्त्य हो जाता है, और इसी देह में ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है ("यदासर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिश्रिताः। अथमर्त्योऽमृतोभवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।।)"[31] योगवाशिष्ट के अनुसार "जीवन्मुक्त अवस्था वह है, जिसमें संत की कोई वासना (अपगतैषणः) नहीं रहती और वह सुषुप्तवत् रहता है। वह आत्मरत रहता है। उसकी दृष्टि सदा अंतर्मुखी ही रहती है, यद्यपि वह अपने बहिश्चक्षु से वस्तुओं को देखता है और अपने सम्पूर्ण कर्मेन्द्रियों की समस्त क्रियाएँ करता रहता है। वह अंतर से समस्त कर्मों का त्याग करता है तथा अपने लिए कोई इच्छा नहीं रखता। वह आनंद से परिपूर्ण रहता है और इसी कारण साधारण दृष्टि वाले लोगों में सुखी व्यक्ति दिखाई देता है, परन्तु वह वास्तव में सब तरह के काम करता हुआ भी अपने आपको कर्तृत्व से मोहित नहीं करता (त्यक्तकर्तृत्वविभ्रमः), अर्थात् उसको कर्ता होने का भ्रम नहीं होता। उसको द्वेष, शोक, संवेग अथवा सुख के उद्वेग नहीं होते।"[32] आंतरिक रूप से विरक्त होते हुए भी वह दूसरों के आनंद में भागीदार और दुखियों के प्रति सहानुभूति सम्पन्न रहता है। जीवन्मुक्ति के साथ ही मृत्यु के बाद की विदेह मुक्ति भी होती है। कठोपनिषद् के अनुसार "जीवित रहते हुए पहले अज्ञान से मुक्ति, फिर विदेह अवस्था में मुक्ति की अवस्था की प्राप्ति होती है (विमुक्तश्च विमुच्यते)।"[33] दोनों प्रकार की मुक्ति में अंतर केवल देह एवं इंद्रियों की उपस्थिति एवं अनुपस्थिति का ही है। दोनों में ही अनुभव एक समान रहता है, क्योंकि दोनों में ही भेद की अनुपस्थिति का ज्ञान बना रहता है। स्वामी विद्यारण्य ने लघु–योगवाशिष्ठ (28.116) के आधार पर 'वासना क्षय, सत्य–ज्ञान और मनोनाश को जीवन्मुक्ति का साधन निरुपित किया है।'[34] ये तीनों एक–दूसरे के कारण–कार्य हैं, जैसे जब तक मनोनाश नहीं होता तब तक वासना क्षय नहीं हो सकता और जब तक वासना या सूक्ष्म संस्कारों का क्षय नहीं होता, तब तक मनोनाश नहीं हो सकता। इसी प्रकार जब तक 'ब्रह्म' का ज्ञान नहीं हो जाता तब तक मन कैसे शांत हो सकता है और ब्रह्म का ज्ञान तब तक नहीं हो सकता जब तक कि मन शांत नहीं हो जाता। शंकराचार्य के अनुसार मुक्ति या मोक्ष नित्य अशरीरत्व है, अर्थात् मोक्ष स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीनों

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रकार के शरीरों से रहित नित्य आत्मस्वरूप का अनुभव है। यहाँ अशरीर का अर्थ शरीर–रहित नहीं वरन् शरीर–संबंध रहित है। यही जीवन्मुक्ति की अवस्था है। आत्मसाक्षात्कार से अविद्या–निवृत्ति होते ही शरीर के रहने पर भी अशरीरत्व या जीवन्मुक्ति सिद्ध हो जाती है।

सारतः कहा जा सकता है कि पंचदशी अद्वैत वेदांत की निधि है। इसने वेदांत की परम्परा को अक्षुण्ण रखने के साथ ही इसे आगे भी बढ़ाया है। यह कई स्थलों पर प्रतिपादित होता है। अद्वैत परम्परा के समान ही यह भी अनुभूति को प्रधान तथा तर्क को गौण मानता है। इसके अनुसार किसी भी ग्रंथ की अंध–स्वीकृति मान्य नही है। आत्मा के स्वरूप के संबंध में स्वामी विद्यारण्य ने 'विवेक' की पद्धति को अपनाया है। 'सत्' को सत् एवं असत् तथा अपरिवर्तनीय एवं परिवर्तनीय में भेद करके प्राप्त किया जा सकता है। पंचदशी ने अनुभव की तीन अवस्थाओं, यथा जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति के विश्लेषण का उल्लेख किया है। इस प्रकार के विश्लेषण से विश्लेषणकर्ता को यह अनुभूति होती है कि इन सभी अवस्थाओं में विषय बदलते रहते हैं, जबकि आत्मा स्थिर रहती है। अतएव जाग्रत और स्वप्न अवस्थाओं के विषयों का जो ज्ञान है, वह एक रूप होने से भिन्न–भिन्न नहीं है (तत्भेदोऽतस्तयोः संविदेकरूपा न भिद्यते)। इसके साथ ही, आत्मा स्वयंप्रकाशता के कारण ही परमसत् है। वस्तुतः यह आत्मा 'सभी ज्योतियों की अमर ज्योति है (ज्योतिषां ज्योतिऽमृतम्)।' यह स्वप्रकाश चैतन्य ही समस्त अनुभव का अधिष्ठान है। अतएव इसका कोई आदि और अंत नहीं है। यह (आत्मा) न तो उदित होती है और न ही अस्त होती है (नोदेति नास्तमेत्येकासंविदेषा स्वयंप्रभा)। आत्मा का स्वरूप शुद्ध चैतन्य है। यह कभी मंद नहीं होने वाला प्रकाश है और सदा रहने वाली चेतना या ज्ञान है। आत्मा भौतिक और मानसिक जगत् के परिवर्तनों की कूटस्थ साक्षी बनी रहती है। इसलिए इसे 'कूटस्थ' कहा जाता है। चैतन्य कभी भी अपने अभाव का अनुभव नहीं करता है। अतएव, चैतंन्य नित्य है। आत्मा केवल 'सत्' एवं 'चित्' स्वरूप ही नहीं है वरन् वह 'आनंद' स्वरूप भी है। योगी को समाधि में सीधे ब्रह्मानंद की अनुभूति होती है। ज्ञानी अपरोक्षतः ही आत्मानंद का साक्षात्कार करता है। जगत् की अनित्यता पर ध्यान करने से भी यह आनंद प्राप्त होता है। जब अंतःकरण भोगों से कुछ संतुष्ट हो जाता है, तो अंतःकरण की पकड़ कुछ ढीली पड़ जाती है और फिर उच्चतर आनंद की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अनुभूति होती है। अतएव आत्मा का स्वरूप सत्, चित् (चैतन्य) एवं आनंद है। व्यक्ति के जीवन की आसक्तियाँ उसके बंधन हैं और इन बंधनों से मुक्ति मोक्ष है। जब व्यक्ति संसार के बंधनों से मुक्त होकर अज्ञान से भी स्वतंत्र हो जाता है, तब उसके कोई भी कर्त्तव्य शेष नहीं रहते और वह इसी जीवन में मुक्त होकर जीवन्मुक्त कहलाता है।

दर्शनशास्त्र विभाग
सरोजनी नायडू शासकीय कन्या स्नातकोत्तर
स्वशासी महाविद्यालय, भोपाल (म.प्र.)
भारतीय दर्शनविभाग
सनातनधर्म एवं भारतीय ज्ञान अध्ययनशाला
साँची बौद्ध-भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय, सलामतपुर (म.प्र.)

संदर्भ एवं पाद टिप्पणी

1. *श्रीविद्यारण्य, (अनु.–डॉ. लक्ष्मणचैतन्य ब्रह्मचारी), पंचदशी, नई दिल्ली : विरभादेवी चेरिटेबल ट्रस्ट, 1992, पृ. 9.*
2. *पूर्वोक्त, पृ. 98.*
3. *पूर्वोक्त, पृ. 577.*
4. *स्वामी श्री हनुमानदास जी षट्शास्त्री (अनु.), ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्यम्, वाराणसीः चौखम्बा विद्याभवन, 1993), पृ. 388.*
5. *स्वामीवीरेश्वरानंद (अनु.), ब्रह्मसूत्र, कोलकाताः अद्वैत आश्रम, 2019, पृ. 153.*
6. *थिबौत, जॉर्ज, (अनु.), वेदांत–सूत्र खण्ड–1, दिल्लीः मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स, 1998, पृ. 315.*
7. *पूर्वोक्त, पंचदशी,पृ. 578.*
8. *पंचदशी,11.89*
9. *स्वामी अभेदानंद, कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी अभेदानंद– खण्ड 11, कलकत्ताः रामकृष्ण वेदांत मठ, 1993, पृ. 275.*
10. *पंचदशी,1.89*
11. *बृहदारण्यक उपनिषद्, 4.4.16*
12. *पंचदशी,1.7*
13. *श्रीविद्यारण्य स्वामी (अनु. स्वामी स्वाहानंद), पंचदशी, चेन्नईः श्रीरामकृष्णमठ, 2018, पृ. x.*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

14. श्रीविद्यारण्य, (अनु.–डॉ. लक्ष्मणचैतन्य ब्रह्मचारी), पंचदशी, नईदिल्ली : विरभादेवी चेरिटेबल ट्रस्ट, 1992, पृ. 56.
15. पंचदशी,1.7
16. पंचदशी, 6.254
17. राधाकृष्णन्, सर्वपल्लि, भगवद्गीता, दिल्लीः हिन्द पॉकेट बुक्स, 1994, पृ. 103.
18. बृहदारण्यकोपनिषद् सानुवाद शांकर भाष्य सहित, गोरखपुरः गीता प्रेस, 2014, पृ. 1077.
19. श्रीविद्यारण्य, (अनु.–डॉ. लक्ष्मणचैतन्य ब्रह्मचारी), पंचदशी, नईदिल्ली : विरभादेवी चेरिटेबल ट्रस्ट, 1992, पृ. 694.
20. पूर्वोक्त, पृ. 755.
21. पूर्वोक्त, पृ. 814.
22. राधाकृष्णन्,पृ. 184.
23. श्रीविद्यारण्य, (अनु.–डॉ. लक्ष्मणचैतन्य ब्रह्मचारी), पंचदशी, नईदिल्ली : विरभादेवी चेरिटेबल ट्रस्ट, 1992, पृ. 812.
24. पूर्वोक्त, पृ. 869.
25. स्वामीरामसुखदास, गीता–प्रबोधनी, गोरखपुरः गीताप्रेस, 2006, पृ. 37.
26. श्रीविद्यारण्य, (अनु.–डॉ. लक्ष्मणचैतन्य ब्रह्मचारी), पंचदशी, नईदिल्ली : विरभादेवी चेरिटेबल ट्रस्ट, 1992, पृ. 924.
27. पंचदशी,2.20–25
28. पूर्वोक्त, 6.130
29. पूर्वोक्त, 7.291–295
30. विद्यारण्य स्वामी, (अनु. स्वामी मोक्षदानंद), जीवन्–मुक्ति–विवेक, कोलकाता : अद्वैत आश्रम, 2022,पृ. 20.
31. बृहदारण्यक उपनिषद्, 4.4.7
32. दासगुप्ता, एस. एन.(अनु. एम. पी. व्यास), भारतीय दर्शन का इतिहास–2, जयपुर : राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, 2011,पृ. 205–06
33. कठोपनिषद्, 2.2.1
34. विद्यारण्य स्वामी, (अनु. स्वामीमोक्षदानंद),जीवन्–मुक्ति–विवेक, कोलकाता : अद्वैत आश्रम, 2022,पृ. 75.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

बौद्ध दर्शन के मूलभूत सिद्धांत और उनका पर्यावरणीय निहितार्थ

मनोहर लाल चौरसिया

प्रस्तावना

प्रत्येक सभ्यता एवं संस्कृति की अपनी एक विश्व दृष्टि होती है जो उस सभ्यता के विकासात्मक एवं सृजनात्मक पहलुओं का आधार बनती है। कोई भी दार्शनिक वैचारिकी अपनी विश्वदृष्टि के द्वारा ही जीवन एवं जगत् की समस्याओं का समाधान खोजने का प्रयास करती है। वर्तमान वैश्विक सभ्यता के निर्माण अथवा विकास प्रक्रिया में दो महत्त्वपूर्ण चुनौतियाँ हैं। प्रथम वे अस्तित्व–मूलक समस्याएँ हैं जिनके सार्वभौमिक समाधानों की लगातार आवश्यकता बनी हुई है, जैसे पर्यावरणीय संसाधन एवं मानवीय संकल्प स्वातंत्र्य। दूसरी चुनौती यह है कि वैश्वीकरण की प्रक्रिया में विविध अंतर्द्वन्द्वात्मक सभ्यताओं एवं संस्कृतियों की एकान्तिक समस्याओं का सह–अस्तित्वीकरण की प्रक्रिया द्वारा समाधान किस प्रकार संभव हो सकता है? जब हम उपरोक्त चुनौतियों के समाधान के विकल्प के रूप में बौद्ध दर्शन की मूलभूत दृष्टियों पर ध्यान केंद्रित करते हैं तो पाते हैं कि यह दर्शन दोनों ही तरह की समस्याओं के कारणात्मक निदान की संभावनाओं को स्पष्ट करता है। प्रस्तुत आलेख बौद्ध दर्शन के मूलभूत सिद्धांतों में अंतर्निहित पर्यावरणीय सह–अस्तित्ववाद के निहितार्थ को उजागर करने का प्रयास करता है। बौद्ध दर्शन में समग्रता की दृष्टि के विकास हेतु पूर्वाग्रह से युक्त दृष्टियों का निषेध अनिवार्य माना गया है। बौद्ध दर्शन की त्रिविध मूलभूत दृष्टियाँ (प्रतीत्यसमुत्पाद,मध्यमाप्रतिपद,शून्यता) समस्त प्रकार के अन्तर्विरोधी मतों की जननी सत्काय दृष्टि का कारणात्मक (सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक) निदान कर नैरात्मवादी सह–अस्तित्ववाद का प्रतिपादन करती है। बौद्धों की यह अंतर्दृष्टि समस्त प्रकार की अंतर्द्वन्द्वात्मक या विरोधी दृष्टियों का

उन्मीलन – वर्ष 37, अंक 2, जुलाई–दिसम्बर 2024
ISSN-0974-0053
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, SI.No. 310

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कारणात्मक निदान करके सह–अस्तित्ववाद की स्थापना करने वाली एक ऐसी मानवतावादी परियोजना है जिसमें कि बौद्धों के आदर्श नैतिक सद्गुण (मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा इत्यादि) फलीभूत हो सकें।

प्रत्येक सभ्यता एवं संस्कृति में जीवन व जगत् से संबंधित समस्याओं का स्वरूप मुख्यतः दो प्रकार का होता है। प्रथम अनुभवमूलक समस्याएँ जो कि तात्कालिक प्रकृति की होती हैं और उनका समाधान विज्ञान द्वारा प्रदत्त विधियों व उपायों द्वारा संभव होता हैं। अनुभवमूलक समस्याएँ एवं अनेक समाधान दोनों ही अस्थाई प्रकृति के होते हैं। जबकि, द्वितीय वैसी अस्तित्वमूलक समस्याएँ हैं जिनकी प्रकृति सार्वभौमिक होती है, जैसे – पर्यावरणीय संसाधनों से जुड़ी समस्या और मानवीय संकल्प स्वातंत्र्य की समस्या इस प्रकार की अस्तित्वमूलक समस्याएँ सार्वभौमिक समाधान की अपेक्षा रखती हैं। विज्ञान के उपायों द्वारा अर्जित समाधान अनुभवमूलक होने के कारण अस्तित्वमूलक समस्याओं के सार्वभौमिक निदान करने में असमर्थ हैं। प्रसिद्ध लेखक मैक्स हार्कहेमर एवं थ्योडोर एडर्नो ने अपनी पुस्तक "डाइलेक्टिक ऑफ इनलाइटेनमेंट" में आधुनिक सभ्यता पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि "आधुनिकता की साभ्यतिक दृष्टि वह है जो अस्तित्वमूलक समस्याओं का अनुभवमूलक समाधान प्रस्तुत करती है।"[1] यहाँ महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि अस्तित्वमूलक समस्या के सार्वभौमिक समाधान की मांग को आधुनिकता के उपाय–कौशल द्वारा पूरा किया जा सकना संभव नहीं है; क्योंकि अनुभवमूलक समाधान समस्या का केवल अस्थायी समाधान करता है, जो कि अस्तित्वमूलक सार्वभौमिक समस्याओं के कारणात्मक समाधान हेतु पर्याप्त नहीं है।

आधुनिकता के अनुभवमूलक समाधान में दूसरी महत्त्वपूर्ण समस्या यह है कि अनुभवमूलक समाधान अपने गर्भ में ऐसी समस्याओं को छुपाए रखता है जो समयोपरांत या भविष्य में और भी गंभीर समस्याओं को जन्म देते हैं। अतः अस्तित्वमूलक समस्याओं का कारणात्मक निदान समग्रता की दृष्टि से रहित आधुनिकता के अनुभवमूलक समाधानों द्वारा संभव ही नहीं है। यह समस्याओं के समग्र कारणों का निरोध न करके उसके लाक्षणिक पहलुओं का निरोध करता है। इसकी मुख्य वजह यह है कि अनुभवमूलक समाधान समस्या के रूप में घटनाओं के लक्षणों को ही समस्या के कारण के रूप में पहचान पाता है। इसलिए उनके समाधान की दृष्टि लक्षणों का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

निरोध करने की होती है, न कि समस्या के मूल कारणों के निदान की। जीवन व जगत् से संबंधित समस्याएँ एक–दूसरे से अनिवार्यतः अंतर्संबंधित होती हैं। अतः समस्या के मूल कारणों को समझने के लिए जीवन व जगत् के प्रति समग्रता की दृष्टि होना अनिवार्य है। बौद्ध दर्शन जीवन और जगत् की समस्याओं को उसकी समग्रता में देखता है।

बौद्ध दर्शन के अनुसार पूर्वाग्रहरहित हो जाने पर ही कारणात्मक समग्रता का ज्ञान संभव हो सकता है, जिसे बौद्ध दर्शन में दृष्टि–शून्यता भी कहते हैं। दृष्टि–शून्यता की यह अवस्था ही दृष्टि–समग्रता की अवस्था है, जिसमें जीवन एवं जगत् के अंतर्संबंधों का कारणात्मक ज्ञान पाने का सामर्थ्य है। इसी के चलते बौद्ध दर्शन समस्याओं को कार्य–कारण की समग्रता में देखता है और समस्याओं के कारणात्मक निदान या अंतिम निदान को प्रस्तुत कर पाता है। किसी भी समस्या के कारणात्मक निदान हेतु दृष्टि–समग्रता एक अनिवार्य शर्त होती है, जिसमें हम अस्तित्वमूलक समस्याओं के मध्य आस्तित्विक एवं विकासीय अंतर्संबंधों को जान पाते हैं। दृष्टि–शून्यता को बौद्ध दर्शन घटनाओं के अंतर्संबंधों के समग्र कारणात्मक ज्ञान होने की अनिवार्य शर्त के रूप में स्वीकार करता है। अतः यह कहना न्यायोचित होगा कि बौद्ध दर्शन में हमें अस्तित्वमूलक समस्याओं के सार्वभौमिक समाधानों (कारणात्मक निदानों) के उपायबीज प्रमाणस्वरूप मिलते हैं और इसमें आधुनिकता जनित समस्याओं का कारणात्मक निदान प्रस्तुत करने का सामर्थ्य है।

पर्यावरण दर्शन की आधारभूत विश्वदृष्टि

पर्यावरण दर्शन जीवन एवं जगत् के अंतर्सम्बन्धों को समझने की 'समग्रता की दृष्टि' है। समग्रतादृष्टि से आशय खोज की उस प्रवधि से है जिसमें विचारणीय तथ्य के सभी पहलुओं को साथ रखते हुए एवं उनके पूर्वापर प्रभावों को भी विचार में लेते हुए विचारणीय विषय के बाबत अपनी राय बनायी जाती है और इसके आधार पर खोज आगे को बढ़ाया जाता है। आधुनिक वैज्ञानिक पदार्थों को तोड़ कर उनकी मूल प्रकृति को समझने का प्रयास करता है, किन्तु किसी भी वस्तु के मूल स्वरूप के निर्धारक घटनाओं की भूमिकाओं को समझने के लिए यह अनिवार्य होता है कि हमें उनसे अंतर्सम्बन्धित अन्य वस्तुओं का भी ज्ञान हो, ताकि यह समझा जा सके कि विकास की प्रक्रिया में वे किस प्रकार एक–दूसरे से अंतर्सम्बन्धित हैं। यह भी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कि किस प्रकार वे एक–दूसरे के विकास को प्रभावित करते हैं। इस प्रकार पर्यावरण दर्शन जीवन और जगत् को समझने के लिए समग्रता की उस अंतर्दृष्टि की खोज करता है, जिससे विभिन्न वस्तुओं में क्रियात्मक एवं विकासीय अंतर्निर्भरता के नियम को समझा जा सके। किसी विषयवस्तु को उसकी समग्रता या पूर्णता में देखने का यही सिद्धांत मनोविज्ञान की भाषा में गेस्टाल्ट कहलाता है।[2] गेस्टाल्ट (समग्रता) दृष्टि विकसित किए बिना वैश्विक नियमों की व्याख्या संभव नही है। कारणात्मक समग्रता की दृष्टि के अभाव में विकास की अन्तर्निभरता एवं रूपांतरण के नियम को उसकी पूर्णता में समझना संभव नहीं है। हम किसी वस्तु और विकासीय परिवर्तन/बदलाव में उसकी भूमिका को तब तक पूरी तरह नहीं जान सकते, जब तक उसे देखने की समग्रता की दृष्टि हमारे भीतर विकसित नहीं हो जाती। समग्रता का यही विचार जीवन के यथार्थ को जानने का एक नव–वैज्ञानिक सामर्थ्य रखता है।

पर्यावरण दार्शनिकों एवं वैज्ञानिकों के अनुसार पारिस्थितिकी दृष्टि केवल पर्यावरण सुरक्षा तक ही सीमित नहीं है अपितु इसकी पहुँच हमारे जीवन और जगत् के विकास व उससे जुड़े गहनतर विकासीय अंतर्सम्बंधों तक है। आधुनिक पारिस्थितिकी दार्शनिकों तथा वैज्ञानिकों ने इसी को ध्यान में रखते हुए गहन पारिस्थितिकी (डीप ईकोलॉजी) दृष्टि तथा सतही पर्यावरणीय दृष्टि के बीच अन्तर करना शुरू कर दिया है। जहाँ सतही पर्यावरणीय दृष्टि का आशय मनुष्य के हित में प्राकृतिक पर्यावरणनियंत्रण तथा प्रबंधन से है, जो कि पारिस्थितिकी संतुलन बनाये रखने के लिए मनुष्य के अवबोध और अभिवृत्ति में परिवर्तन की मांग करता है; वहीं गहन पारिस्थितिकी का समर्थन आधुनिक पारिस्थितिकी एवं दार्शनिक विचारकों द्वारा हुआ है। यह विशेष रूप से नवीन व्यवस्था उपागम है, जिसकी जड़ें मनुष्य के गहनतम यथार्थ के अवबोध तक पहुँचती हैं; जो कि वैज्ञानिक परिधि से परे है।"[3] इसका अवबोध सहज रूप से जीवन और जगत् की ऐक्यता के रूप में होता है। इस प्रकार कहा जाता है कि "आधुनिक वैज्ञानिक एवं दार्शनिकों द्वारा अपनायी गई डीप ईकोलॉजी की अंतर्दृष्टि किसी नवीन दर्शन का प्रस्ताव नहीं है; अपितु यह एक ऐसी चेतना का पुनर्जीवीकरण है, जो हमारी संस्कृति का एक भाग हैं।"[4] डीप ईकोलॉजी की अंतर्दृष्टि हमारी संस्कृति की सर्वोच्च एवं मूलभूत अंतर्दृष्टि रही है। आधुनिक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो यह पारिस्थितिकी दृष्टि की समझ का ही अवबोधित विस्तार है, ताकि संवेदनशीलता का वैश्विक विस्तार हो सके तथा अवबोध के स्तर पर यह समझना संभव हो सके कि मनुष्य अपने उच्चतर लक्ष्यों से युक्त विकास के लिए किस प्रकार अपनी पारिस्थितिकी से अंतर्सम्बन्धित है। प्राकृतिक आपदा का कारण प्राकृतिक असंतुलन है और प्राकृतिक असंतुलन अज्ञान जन्य कृत्यों का सामूहिक परिणाम है। अज्ञान की कड़ी टूटने पर वही प्रकृति जो मनुष्य के लिए आपदा लेकर आ जाती है, सुख–समृद्धि बिखेरने लगती है।

बौद्ध दर्शन का प्रतीत्यसमुत्पाद एवं उसका पर्यावरणीय निहितार्थ

प्रतीत्यसमुत्पाद बौद्ध दर्शन की केंद्रीय अवधारणा है। इसका अर्थ है कि प्रत्येक वस्तु व घटना अन्योन्याश्रित होती है, उनके आपसी संबंधों के कारण ही उनका अस्तित्व होता है। साथ ही प्रतीत्यसमुत्पाद के अनुसार प्रत्येक घटना का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि सृष्टि की समस्त घटनाएँ अपने कार्य–कारण रूप में एक दूसरे से अंतर्संबंधित हैं। इसीलिए प्रतीत्यसमुत्पाद को कार्य–कारण व परस्पर निर्भरता का नियम कहा जाता है। इस अर्थ में प्रतीत्यसमुत्पाद जीवन एवं जगत् में घटने वाली घटनाओं के मध्य कार्य–कारण संबंधों की एक सार्वभौमिक रूपरेखा प्रस्तुत करता है। प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धांत में बारह कड़ियाँ या बारह अंग होने के कारण इसे द्वादश निदान भी कहते हैं। इसके बारह अंग इस प्रकार हैं–"अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति, जरा–मरण।"[5] प्रतीत्यसमुत्पाद, बौद्ध दर्शन को समझने की कुंजी है। बुद्ध का वचन है–"जो प्रतीत्यसमुत्पाद को देखता है, वह धर्म (बुद्ध के दर्शन) को देखता है, जो धर्म को देखता है, वह प्रतीत्यसमुत्पाद को देखता है।[6] प्रतीत्यसमुत्पाद प्रक्रिया में उत्पति और विनाश का द्वादशक्रम चित्त के अनुबंध नियम को भी अभिव्यक्त और प्रतिबिम्बित करता है। इसी प्रकार प्रतीत्यसमुत्पाद बाह्य जगत् में हेतु एवं फल के अनुबंध नियम को भी संसाधित करने वाला सिद्धांत है। वास्तव में यही बुद्ध के दर्शन की आधारशिला है ।

बौद्ध पंच स्कन्धों की अस्थायी सत्ता को स्वीकार करते हैं, जिन्हें अनुभव के किन्हीं और विकल्पों में अपचयित करना संभव नहीं है। वे इस प्रकार हैं–रूपस्कन्ध, वेदनास्कन्ध, संज्ञास्कन्ध, विज्ञानस्कन्ध और संस्कारस्कन्ध। ये पंचस्कन्ध क्षणिक, अस्थायी व अंतर्सम्बन्धित होकर ही

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अस्तित्ववान् होते हैं। बौद्ध दर्शन के द्वादशांग, भवचक्र, संसारचक्र और धर्मचक्र इन्हीं पंचस्कन्धों के सम्बन्धानिक अनुबंधों का ही परिणाम हैं; अर्थात् द्वादशांग चक्र की बारह अवस्थाएँ पंचस्कन्धों की ही बारह आनुबंधिक अवस्थाएँ हैं।[7] इनमें से प्रत्येक अवस्था की अपनी विशिष्ट सृजनात्मकता है। पंचस्कन्धों की यह द्वादश अनुबंधिक अवस्थाएँ ही मिल कर प्रतीत्यसमुत्पन्न संसार की रचना करती हैं। अतः जीवन और जगत् पंचस्कन्धों की ही विशिष्ट सृजनात्मकता का सामूहिक परिणाम है। इस प्रकार प्रतीत्यसमुत्पाद सृष्टि में सांसारिक उत्पति एवं विनाश की अन्तर्निर्भरता के विन्यास को व्याख्यायित करने वाला सिद्धांत है। इसके द्वारा हम सृष्टि को उसकी कारणता के धरातल पर समझ पाते हैं। इस प्रकार प्रतीत्यसमुत्पाद को उत्पत्ति एवं विनाश के अनिवार्य अनुबंधों की अंतर्निर्भरता के सिद्धांत के रूप में भी समझा जा सकता है। प्रतीत्यसमुत्पाद विभिन्न तत्त्वों के उदय तथा अस्त को व्यवस्थित करने वाला नियम है। यह कालिक अनुक्रम का सिद्धांत नहीं, बल्कि वस्तुओं की परस्पर एक दूसरे पर स्वभाविक निर्भरता का सिद्धांत है।[8] एक अन्य दृष्टि से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि प्रतीत्यसमुत्पाद प्रकृति में प्रतिक्षण घटने वाली रूपांतरण प्रक्रिया का रोडमैप अथवा ब्लूप्रिंट है, जिससे रूपांतरण की विभिन्न अवस्थाओं को उसके कार्य–कारण की अंतर्निर्भरता में जाना जा सकता है। प्रतीत्यसमुत्पाद को रूपांतरण का कार्य–कारण नियम भी कहा जा सकता है, जो संवृत्ति जगत् के अनुबंध की कार्य–कारणता की सापेक्षिक व्याख्या करता है। इसी कारण प्रतीत्यसमुत्पाद को सापेक्ष्य कारणतावाद के भी नाम से भी जाना जाता है।

बुद्ध स्वयं उत्पति एवं विनाश की कार्य–कारण दृष्टि को समझाते हुए कहते हैं कि किसी भी कार्य को घटित होने में न्यूनतम दो या दो से अधिक कारणों की भूमिका होती है। कार्य–कारण के निरीक्षण की इसी बहुआयामी दृष्टि को सामग्री कारणतावाद के नाम से भी जाना जाता है, जिसके द्वारा जीवन और जगत् के नियमों में निरंतरता बनी रहती है। परिणामस्वरूप इसे जगत् के सामंजस्यता का नियम भी कहा जा सकता है। इसके चलते ही सांसारिक चक्र की निरंतरता सदा बनी रहती है। बौद्ध दर्शन का कारणतावाद या प्रतीत्यसमुत्पाद पर्यावरण संरक्षण की आधारशिला है। बौद्ध दर्शन किसी नियति या ईश्वर की इच्छा (दैववाद) में विश्वास नहीं करता है। उसके अनुसार घटनाएँ पूर्व नियोजित या ईश्वरेच्छा से प्रेरित नहीं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हैं, बल्कि सापेक्ष–कारणता के सार्वभौमिक सनलग्नता के नियमों के आधार पर घटित होती है।

पर्यावरणीय संतुलन व असंतुलन न तो नियति है, न ही यह दैवी इच्छा का प्रतिफल है; बल्कि मनुष्य के द्वारा ही प्रकृति के अविचारित दोहन का परिणाम है। यह पर्यावरणीय असंतुलन मानव–सापेक्ष कारणों से उत्पन्न है, क्योंकि बौद्धों के अनुसार जीवन व जगत् की घटनाओं के अंतर्संबंधों को उजागर करने वाला एक कार्य–कारण सिद्धांत है, जिसके द्वारा यह स्पष्ट होता है कि प्रकृति की समस्त घटनाएँ एक दूसरे से अंतर्संबंधित हैं तथा प्रत्येक घटना एक दूसरे को परस्पर प्रभावित करती है। प्रतीत्यसमुत्पाद की कार्य–कारण दृष्टि हमें सूक्ष्म से सूक्ष्मतर समस्याओं का कारणात्मक ज्ञान एवं निदान करने हेतु समर्थ बना देती है। विभिन्न पर्यावरणीय समस्याएँ एक दूसरे से अनिवार्यतः अंतर्संबंधित होतीं है, इसलिए वे सापेक्षिक हैं।

अतः बौद्ध दर्शन यह प्रमाणित करता है कि पर्यावरण असंतुलन सार्वभौमिक संलग्नता की प्रतीत्यसमुत्पादवादी जीवन–दृष्टि के विरूद्ध मनुष्य की उपभोक्तावादी मनोवृत्ति से अभिप्रेरित संसाधनों के अत्यधिक दोहन का ही सामूहिक परिणाम है। मनुष्य की पर्यावरणीय समस्याओं का जन्म उन्हीं के द्वारा किए गये कृत्यों का सामूहिक परिणाम है, जिसका मुख्य कारण मनुष्य में जीवन व जगत् के प्रति समग्रता की दृष्टि का अभाव है। बौद्ध दर्शन का प्रतीत्यसमुत्पाद हमें कार्य–कारण की समग्र दृष्टि प्रदान करता है, और इसके द्वारा मनुष्य यह समझ पाने में समर्थ हो सकता है कि पर्यावरणीय समस्याएँ उनके व्यक्तिगत कृत्यों के ही सामूहिक परिणाम हैं। अतः कार्य–कारण की प्रतीत्यसमुत्पादवादी समझ मनुष्य को उपभोक्तावादी अभिवृत्ति के दुष्परिणामों के प्रति आत्मचेतन बनाती है। साथ ही प्रतीत्यसमुत्पाद मनुष्य की मनोवृत्तियों और उसकी प्रकृति के प्रति अभिवृत्तियों के अंतर्संबंधों की कारणात्मक एवं निदानात्मक व्याख्या है, अर्थात् प्रतीत्यसमुत्पाद की कार्य–कारण दृष्टि, व्यक्तिगत कृत्यों में सुधार द्वारा वैश्विक पर्यावरणीय समस्याओं के निदान का मार्ग प्रशस्त करती हैं।

मध्यमाप्रतिपद एवं उनका पर्यावरणीय निहितार्थ

मध्यमा प्रतिपद, समस्त प्रकार की अतिवादी दृष्टियों का अंत करने वाली अवधारणा है। इसकी महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि यह समस्त प्रकार के अतिवादी अवधारणाओं के मूल कारण "सत्काय दृष्टि" का निरोध कर उनका कारणात्मक निदान करता है, जिससे अतिवादी दृष्टियों का अंत

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

स्वतः ही हो जाता है। मध्यमाप्रतिपद दो अतिवादी दृष्टियों के मध्य की कोई अन्य तीसरी दृष्टि नहीं है, अपितु यह दो अतिवादी दृष्टियों को अतिक्रान्त करने वाली दृष्टि शून्यता है। यह दृष्टिशून्यता दृष्टिसमग्रता की एक अनिवार्य पूर्व शर्त है। इस अर्थ में मध्यमाप्रतिपद अपने आप में अतिवादी दृष्टियों से उच्चतर समग्रता की एक प्रतिवर्ती चेतना है। अतिवादी दृष्टियों के मूल कारण का अंत करने के कारण ही मध्यमाप्रतिपद को 'दृष्टि प्रतिषेधक' भी कहा जाता है। बौद्ध दर्शन के मध्यमाप्रतिपद की अवधारणा प्रतीत्यसमुत्पाद पर आधारित जीवन–दृष्टि है, जो वस्तु को उसकी सापेक्षिक परिवर्तनशीलता में देखता है। प्रतीत्यसमुत्पाद सांवृतिक जगत् की सह–आस्तित्विक व्याख्या प्रस्तुत करता है। जहाँ प्रत्येक वस्तु अनात्म (परिवर्तनशील प्रवाह) होते हुए भी एक–दूसरे से अन्तर्सम्बन्धित हैं, जो कि जीवन और जगत् के मूल सह–अस्तित्ववादी स्वरूप को उद्घाटित करता है। मध्यमादृष्टि बिना किसी दृष्टि प्रतिरोध के या पूर्वाग्रह के इसी को प्रकाशित करती है। माध्यमिक पद्धति मस्तिष्क को अवधारणाओं से मुक्त कर समस्त आनुभविक तथा प्रागनुभविक धारणाओं के बोझ से मुक्त करने की पद्धति है। द्वन्द्वपद्धति सूचनाओं के संग्रह का मार्ग नहीं, अपितु उनका विरेचन है, प्राथमिकतया बुद्धि के शुद्धिकरण का मार्ग है । अनुषंगतः नैतिक दूषणों का इससे शोधन हो जाता है।[9] इस प्रकार मध्यमाप्रतिपद जीवन और जगत् के सह–आस्तित्विक स्वरूप को समझने की अनिवार्य शर्त है। इसे ऐसे भी कहा जा सकता है कि मध्यमा दृष्टि ही समस्त अतिवादी दृष्टियों का निषेध करके जीवन और जगत् के मूल में कार्यरत सह–आस्तित्विक स्वरूप को उजागर करती है ।

सह–अस्तित्वता का यह संबंध विकासीय और आस्तित्विक दोनों है तथा परस्पर निर्भरता और विकास के बीच के संबंध पर आधारित है। इसका मतलब है कि हर चीज अपने अस्तित्व और विकास के लिए अन्य चीजों पर निर्भर करती है। इसे विकास के लिए आवश्यक सहयोग का सिद्धांत भी कहा जा सकता है। मध्यमाप्रतिपद (मध्यम मार्ग) की दृष्टि, जिसे नागार्जुन ने प्रतीत्यसमुत्पाद (कारण और परिणाम के आपसी संबंध) और शून्यता के साथ जोड़ा है, जीवन के सही मार्ग को प्रदर्शित करता है। गोविंदचंद्र पाण्डेय के अनुसार, "नागार्जुन ने प्रतीत्यसमुत्पाद को शून्यता के साथ अभिन्न बताया। जो प्रतीत्यसमुत्पाद है उसे ही हम शून्यता कहते हैं,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

वही उपाय है, वही प्रज्ञप्ति है, वही मध्यमा प्रतिपदा है।"[10] अर्थात् जो प्रतीत्यसमुत्पाद (हर भाव का किसी कारण से उत्पन्न होना) है, वही शून्यता है। यही उपाय (समाधान), प्रज्ञप्ति (ज्ञान या समझ) और मध्यमा प्रतिपदा (मध्यम मार्ग) है। संक्षेप में, यह सिद्धांत हमें बताता है कि जीवन में सभी चीजें आपस में जुड़ी हुई हैं और कोई भी चीज अन्य–निरपेक्ष रूप से अस्तित्व में नहीं हो सकती। सभी चीजें एक दूसरे पर निर्भर हैं, और यह विचार हमें सह–अस्तित्व भाव से संतुलित जीवन जीने की प्रेरणा देता है।

प्रकृति का मूलभूत सिद्धांत भी संतुलन का ही सिद्धांत है। इसलिए हम देखते हैं कि प्रकृति अपनी सभी क्रियाकलापों में एक आंतरिक संतुलन स्थापित कर उसे नियंत्रित, निर्देशित एवं क्रियावान् बनाती है। पर्यावरणीय समस्याएँ प्रकृति के संतुलन–भंग की एक ऐसी अवस्था है जो वैयक्तिक कृत्यों के सामूहिक परिणाम हैं। समसामयिक परिप्रेक्ष्य में पर्यावरणीय समस्या वैश्विक समस्या बनकर उभरी हैं, जो मनुष्य के उपभोक्तावादी अतिवाद का ही प्रतिफल है। मनुष्य की उपभोक्तावादी या उपभोग की संस्कृति अपने वर्चस्व को स्थापित करने की ऐसी मनोवृत्ति है जो पर्यावरणीय समस्याओं को उत्तरोत्तर बढ़ाती ही जा रही है। मध्यमप्रतिपद का बौद्ध सिद्धांत संतुलनात्मक प्रकृति के होने के कारण एक आत्मसंयम का सिद्धांत भी है। हम देखते हैं कि आत्मसंयम एवं आत्मचेतना के अभाव में मनुष्य उपभोक्तावादी अतिवाद का शिकार होता है। मध्यमाप्रतिपद की दृष्टि ही उपभोक्तावादी अतिवाद के इस जाल से बाहर निकालकर मनुष्य को अपने अतिचारात्मक कृत्यों के प्रति आत्मचेतन बना सकती है। पारस्परिक निर्भरता की समग्रतावादी दृष्टि ही मनुष्य को हिंसा के प्रति सचेत करती है। यदि मनुष्य इच्छाओं और आवश्यकताओं के मध्य ठीक उसी प्रकार संतुलन स्थापित करने में सफल हो जाता है, जिस प्रकार प्रकृति अपने आंतरिक क्रियाकलापों के मध्य संतुलन स्थापित करती है; तब मनुष्य पर्यावरण जैसे अस्तित्वमूलक समस्याओं का सार्वभौमिक समाधान करने में समर्थ हो सकेगा। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि बौद्धों का मध्यमाप्रतिपद का सिद्धांत मनुष्य के उपभोक्तावादी और वर्चस्ववादी भावनाओं में आंतरिक संतुलन स्थापित कर पर्यावरणीय संतुलन को पुनर्स्थापित करने का मार्ग प्रशस्त करता है। इस प्रकार बौद्धवादी विचारधारा में मध्यमा प्रतिपद को सामंजस्यता का नियम भी कहा जा सकता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

बौद्ध दर्शन की शून्यता एवं उसका पर्यावरणीय निहितार्थ

शून्यता बौद्ध दर्शन का केन्द्रीय ज्ञानमीमांसीय एवं तत्त्वमीमांसीय सिद्धांत है। बौद्ध दर्शन में 'शून्यता' शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। प्रथम वस्तु के निःस्वभाव के अर्थ में एवं द्वितीय दृष्टि शून्यता के अर्थ में। दोनों ही अर्थों में शून्यता पुद्गल एवं धर्म दोनों के अनात्म स्वरुप को ही प्रकट करता है। इसलिए बौद्धों ने शून्यता को द्विधारी तलवार कहा है। स्वयं बुद्ध ने वस्तु के अनात्मवादी स्वरूप को उजागर करते हुए शून्यता के स्वरूप को स्पष्ट किया है। बौद्ध जब वस्तुओं के मूल तात्त्विक स्वरूप का निरीक्षण करते हैं तो वस्तुओं में कोई भी ऐसे लक्षण नहीं पाते जिसका अपना स्वतंत्र अस्तित्व हो। अतः वस्तुओं का अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता, अपितु सर्वथा पर–निर्भर होता है। अपनी उत्पति एवं विनाश के लिए किसी वस्तु का अस्तित्व पर–निर्भर होने के कारण किसी अन्य वस्तुओं के साथ परस्पर निर्भर होता है। वस्तु के इसी पर–निर्भरता के अर्थों में वस्तु को स्वभाव–शून्य कहा गया है। वस्तु का अपना कोई स्वतंत्र स्वभाव नहीं है। बौद्धों ने इसी को अनात्म भी कहा है। इस प्रकार "शून्यता का तात्पर्य है कि यह केवल निषेध नहीं है, अपितु किसी में किसी का निषेध है।"[1] अपने सारभूत अर्थ में वस्तु का अपना कोई स्वतंत्र स्वभाव न होना ही शून्यता है।

बौद्ध दर्शन में शून्यता की अवधारणा को स्वीकार्य करने के तीन प्रमुख कारण हैं। प्रथम वस्तु के आन्तरिक स्वभाव की व्याख्या करना, जिसे स्वभावशून्यता के प्रतिपादन द्वारा स्पष्ट किया जाता है। दूसरा पूर्वाग्रह रहित दृष्टि के रूप में, जिससे वस्तु को उसके उस स्वरूप में जाना जा सके जैसा वह अपने आप में है। तीसरा और महत्त्वपूर्ण कारण दुःख निवृति हेतु आधारभूत दृष्टि प्रज्ञा के रूप में, जिससे निर्वाणिक सत्य का साक्षात्कार हो सके। बौद्धों द्वारा शून्यता की अवधारणा किसी अन्तिम सत्ता के स्वरूप को निर्धारित करने से अधिक उसके सांसारिक दुःख निवृति के प्रयोजन के रूप में दिखलाई पड़ती है, जिससे चित्त का शुद्धिकरण होता है। बौद्ध दर्शन में शून्यता की अवधारणा को स्वीकार करने का एक अन्य महत्त्वपूर्ण कारण यह भी है कि यह सभी तरह के अतिवादी दृष्टियों का निषेध करता है। शून्यता पूर्वाग्रह रहित दृष्टि भी है, जिससे सत्य को उसके मूल स्वरूप (तथता) में जाना जा सकता है। इसे दृष्टियों का शमन करने वाला भी माना जाता है, किन्तु यह स्वयं अपने आप में कोई दृष्टि नहीं है। इसीलिए इसे

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

दृष्टि–शून्यता भी कहा जाता है। यही शून्यता की दृष्टि प्रतीत्यसमुत्पाद के सार्वभौमिक स्वरूप को प्रकाशित करती है, जिससे जीवन एवं जगत् के अनात्म स्वरूप का बोध होता है। अनात्म स्वरूप के इसी बोध से तृष्णा का विनाश होता है, तृष्णा के विनाश से दुःखों का अन्त होता है और इस अर्थ में तृष्णा पर अंकुश लगाने वाला यह सिद्धान्त पर्यावरण संरक्षण के लिये भी उपादेय है। पर्यावरण का दोहन तृष्णा का समानुपाति होता है। आज तृष्णाओं को इतना बढ़ा दिया गया है कि हम भविष्य को भी कन्ज्यूम करते जा रहे हैं।

शून्यता की अवधारणा का विस्तार एक ओर वस्तु के स्वभाव के रूप में हुआ, वहीं दूसरी ओर दृष्टि–शून्यता के रूप में भी प्रयुक्त हुआ है। जब शून्यता का प्रयोग दृष्टि–शून्यता के अर्थों में किया जाता है तो यह मध्यमा प्रतिपद से तादात्म्य कर लेता है। वहीं जब शून्यता का प्रयोग वस्तु के निःस्वभावता के अर्थों में किया जाता है तो यह प्रतीत्यसमुत्पाद से तादात्म्य संबंध रखता है। किन्तु दोनों ही अर्थों में शून्यता ज्ञाता और ज्ञेय के ही अनात्म स्वरूप को उजागर करता है, अर्थात् शून्यता अनात्मबोध का ही पर्याय है। अनात्म ही शून्यता का निष्कर्ष है। अन्य अर्थों में बुद्ध की मध्यमाप्रतिपद की दृष्टि सांसारिक अंतर्निर्भरता के सिद्धांत को उद्घाटित करती है, जिसे प्रतीत्यसमुत्पाद कहा जाता है। सार्वभौमिक अंतर्निर्भरता की यही दृष्टि पर्यावरणीय सह–अस्तित्ववाद की आधारशिला है। पर्यावरणीय सिद्धांत, अंतर्निर्भरता के सिद्धांत की अनुपालना करता है। अंतर्निर्भरता के इस तंत्र को पर्यावरणीय विज्ञान में पारिस्थितिकी तंत्र के नाम से भी जाना जाता है, जिसमें प्रकृति में ऊर्जा प्रवाह के नियमों का अध्ययन किया जाता है, जो कि पारिस्थितिकी संतुलन के लिए अनिवार्य है। इस प्रकार बुद्ध के वस्तुनिष्ठ प्रतीत्यसमुत्पाद को पारिस्थितिकीय आन्तरिक नियमों की व्याख्या कहा जा सकता है।

बुद्ध की अनात्मवादी दृष्टि में अंतर्निर्भरता की दृष्टि अनिवार्यतः समाहित है। पर्यावरण के इतिहास में पर्यावरण की जो भी क्षति हुई है, उसका मुख्य कारण मनुष्य के अहं का विस्तार है। इसे सरल भाषा में निम्न प्रकार समझा जा सकता है। मानव द्वारा प्रकृति और उसके संसाधनों पर कब्जा करना उसके अहम के विस्तार का एक उदाहरण है; क्योंकि यह उस मानसिकता को दर्शाता है, जिसमें मनुष्य खुद को बाकी प्रकृति से श्रेष्ठ

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

मानता है। यह प्रवृत्ति मानव के आत्मकेंद्रित दृष्टिकोण को प्रकट करती है जहाँ वह अपने लोभ और सुविधा के लिए प्रकृति का अनियंत्रित दोहन करता है, जैसे कि पूरी पृथ्वी और उसके संसाधन सिर्फ उसके लिए बनाए गए हों। इसे निम्न प्रकार से भी समझा जा सकता है कि अहम मानवकेंद्रित विचार की गहनतम स्थिति है, जिसके कारण श्रेष्ठता की भावना उत्पन्न होती है। जब मनुष्य प्रकृति पर अपना कब्जा जमाता है, तो वह यह मानकर चलता है कि वह प्रकृति से श्रेष्ठ है और उसके संसाधनों का उपयोग करने का अधिकार केवल उसके पास है। यह सोच मनुष्य के अहंकार का विस्तार है, जहाँ वह प्रकृति के साथ सह–अस्तित्व में नहीं, बल्कि उस पर हावी होने की कोशिश करता है। अहम की मानवकेंद्रित भावना मनुष्य में आत्मसंतुष्टि और संसाधनों की लालसा उत्पन्न करती है, जिसके कारण मनुष्य अपने भौतिक और आर्थिक विकास के लिए प्राकृतिक संसाधनों का अत्यधिक दुरूपयोग करता है। यह आत्मसंतुष्टि की भावना को बढ़ाता है, जिसमें उसे लगता है कि जितना अधिक वह प्रकृति पर कब्जा करेगा, उतनी ही उसकी शक्ति और समृद्धि बढ़ेगी।

मनुष्य की अहंवादी और उपभोक्तावादी मनोवृति प्रकृति के अधिकाधिक संसाधनों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लेना चाहती है। परन्तु, मनुष्य अपने इस अज्ञान से अनभिज्ञ है कि उसके इस अहम और तज्जन्य तृष्णा का कोई अन्त नहीं है। अनात्मवादी दृष्टि अहम से तृष्णा और तृष्णा से उत्पन्न क्लेशावरण व नकारात्मक मनोवृति का क्षय करती है। इसके द्वारा ही मनुष्य को पर्यावरण के प्रति अनहंकारी बनाया जा सकता है तथा उसके द्वारा पर्यावरण की अनावश्यक क्षति को भी रोका जा सकता है।

शून्यता घटनाओं के अंतर्संबंधों को समझने वाली समग्रता की दृष्टि है। यह घटनाओं के मध्य के अंतर्संबंधों को उजागर करने वाली मूल अंतर्दृष्टि है। एक अन्य अर्थ में शून्यता अर्थक्रियावान् जगत् की मूल क्रियाशक्ति है। जगत् की यही अर्थक्रियावान् शक्ति बौद्धों के अनुसार सत्य का एकमात्र मानदंड है। इस अर्थ में शून्यता प्रकृति की वह मूल अवस्था है, जहाँ से प्रकृति के समस्त क्रिया व नियम नियंत्रित एवं निर्देशित होते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि सत्तामीमांसीय दृष्टि से भी शून्यता प्रकृति की अर्थक्रियाकारित्व को स्वतंत्र करने वाली मूल अवस्था है। इसके द्वारा प्रकृति की समस्त अवस्थाओं का निर्धारण निर्बाध रुप से होता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पर्यावरणीय सिद्धांत भी प्रकृति में क्रियाशील नियम को जानने का प्रयास करता है। बौद्धों की शून्यता की अवधारणा में पर्यावरण दर्शन के लिए आधारभूत दृष्टि बनने का सामर्थ्य है, जिसके द्वारा न केवल प्रकृति में क्रियाशील नियमों की समग्रता का ज्ञान संभव है, अपितु उसमें होने वाले संभावित परिवर्तनों का ज्ञान भी समाहित है। यह हमें उपभोक्तावादी मनोवृत्ति द्वारा उत्पन्न वैश्विक पर्यावरणीय समस्याओं का कारणात्मक निदान करने में समर्थ बना देती है। बौद्ध साहित्य में शून्यता को एक सर्वग्राही शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है, जो एकमात्र ऐसी शक्ति है जो अन्य शक्तियों के द्वारा नियंत्रित एवं निर्देशित नहीं होती, अपितु वह स्वयं अन्य सभी घटनाओं के परस्पर–संलग्नता में घटित होने का संभावित आधार बनती है। अतः पर्यावरणीय समस्याएँ यदि प्रकृति और मानव के अंतर्विरोधी शक्तियों के टकराव का ही परिणाम हैं तो इसका कारणात्मक निदान बौद्धों की शून्यता की अवधारणा में दिखलाई पड़ता है।

अनात्मवादी सह–अस्तित्ववाद

सह–अस्तित्ववाद पर्यावरण दर्शन अथवा पारिस्थितिकी दर्शन की एक केन्द्रीय अवधारणा है। इस अवधारणा का जन्म व विकास मानव चेतना में तब हुआ जब उसको अनुभव हुआ कि उसका स्वयं का अस्तित्व पर्यावरण के सापेक्ष ही विकसित हो सकता है। मानव का विकास उसके पर्यावरण से स्थापित संतुलन पर निर्भर करता है। इस प्रकार विकास की प्रक्रिया में अनिवार्य तत्त्वों का संतुलित विनियमन न केवल विकासीय अनिवार्यता हेतु आवश्यक है, अपितु अस्तित्व की निरंतरता को बनाये रखने के लिए भी अनिवार्य है। जीवन व जगत् में आस्तित्विक निरंतरता प्रकृति में मौजूद चक्रीय अनुक्रमों द्वारा निर्धारित होती है। जैसे वृक्षों के द्वारा ऑक्सीजन का उत्सर्जन, जीव–जन्तुओं द्वारा उस ऑक्सीजन का अवशोषण एवं जीव–जन्तुओं द्वारा उत्सर्जित कार्बन डाइऑक्साइड का वृक्षों के द्वारा अवशोषित किया जाना। यह एक ऐसी चक्रीय अनुक्रमों का निर्माण करती है जिसे कार्बन चक्र भी कहा जाता है। इसके माध्यम से ही प्रकृति में कार्बन डाइऑक्साइड व ऑक्सीजन एक संतुलित मात्रा में प्रकृति में हमेशा उपलब्ध रहते हैं जो कि समस्त जीव–जन्तु एवं वनस्पति जगत् के पारिस्थितिकी विकास के लिए अनिवार्य है। इससे स्पष्ट होता है कि जीव–जन्तुओं का विकास उनके द्वारा प्रकृति के साथ बनाये गये संतुलन के द्वारा ही निर्धारित

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

होता है। इसे ही विकासीय अनिवार्यता का सिद्धांत भी कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में, पारिस्थितिकी विकास का प्रारूप सह–अस्तित्वीय विकासवादी है। जहाँ जीव और जगत् का न केवल विकास होता है, अपितु दोनों के अंतर्सम्बंधों का भी विकास होता है।

विकासीय जगत् को देखने से ऐसे बहुत से ऐतिहासिक प्रमाण (जीवाश्म) मिलते हैं जो यह दर्शाते हैं कि वे जीव जो अपने आप को पर्यावरण के अनुकूल अनुकूलित कर पाते हैं, केवल वही अपने अस्तित्व को बनाये रखने में सफल हो पाते। डार्विन ने विकास प्रक्रिया के अवलोकन में यह पाया कि जीव के द्वारा स्वयं को पर्यावरण के अनुकूल ढालने की प्रक्रिया में जिस प्रकार के रूपांतरण देखे गए, वे न केवल आंगिक रूपांतरण थे, अपितु यह रूपांतरण उनके कोशिकाओं के जीनों में भी देखे गये। इसके कारण ही संतति–जीवों में जन्म से ही उनके पूर्वज–जीवों द्वारा उपार्जित लक्षणों की अनुवांशिकी पाई गई। इससे स्पष्ट होता है कि जीव अपने विकासी प्रक्रिया में न केवल उच्चतर क्षमताओं का उपार्जन करता है, अपितु पर्यावरण के साथ अपने अंतर्सम्बंधों का भी विकास करता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जीवन और जगत् के विकास का स्वरूप एकांगी न होकर सह–अस्तित्वीय है। जीव और जगत् के अंतर्सम्बंधों का विकास ही सह–अस्तित्वीय विकास का मूल आधार है।

बौद्धों द्वारा जीवन और जगत् के नैरात्मवादी दृष्टि द्वारा अनात्मवाद का प्रतिपादन किया गया। इसके केन्द्र में बौद्धों की केन्द्रीय अवधारणा प्रत्यीत्यसमुत्पाद है, जिसके अनुसार जीवन और जगत् में किसी का भी अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता; अपितु प्रत्येक जीव या वस्तु का अस्तित्व सापेक्षिक रूप से अनिवार्यतः एक–दूसरे से अन्तर्सम्बन्धित होता है। दृष्टि–शून्यता सत्य में झांकने एवं उसका विश्लेषण करने की एक उच्चतर दृष्टि प्रदान करती है। यही उच्चतर दृष्टि अपने निष्कर्ष में अनात्मवाद के रूप में फलीभूत होती है। अनात्मवादी दृष्टि द्वारा ही यह समझ पाना संभव होता है कि आत्म के स्थायित्व का बोध सत्काय दृष्टि का ही बाह्य एवं आंतरिक आरोपण मात्र है। बौद्ध इसी आधार पर मानते है कि "स्वातंत्र्य एक निषेधात्मक प्रक्रिया है। यह सद्गुणों का एकीकरण या शक्ति का अधिग्रहण नहीं है, अपितु तत्त्व का आवरण करने वाले क्लेशावरण का अपसारण है।"[12]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अनात्मवादी जीवन–दृष्टि में समस्त प्रकार के अंतर्द्वन्द्वात्मक समस्याओं का कारणात्मक निदान करने व सह–आस्तित्विक विकासवाद की मूल दृष्टि बनने की संभावना निहित है। इसके द्वारा मानव एवं पर्यावरण के अंतर्संबंधों को पुनर्जीवित कर चराचर–संवेदी जीवनशैली का विकास संभव हो सकता है। माध्यमिक बौद्ध दर्शन के अनुसार सार्वभौमिकता तथा सुनिश्चितता किसी विशिष्ट दृष्टिकोण के संकलन में नहीं मिलती, अपितु कठोरता से समस्त दृष्टिकोणों के परित्याग से प्राप्त होती है।"[3] समस्त दृष्टियाँ अंशव्यापी होने के कारण सार्वभौमिक नहीं हो सकतीं, अतः दृष्टि–निषेध के द्वारा ही सार्वभौमिकता की आधारभूत दृष्टि को प्राप्त किया जा सकता है। वास्तव में समस्त दृष्टियों के प्रहाण द्वारा जीवन एवं जगत् की घटनाओं को उनके अंतर्संबंधों एवं सार्वभौमिकता में समझना संभव है। इसी शून्यता–दृष्टि के द्वारा हम अस्तित्वमूलक समस्याओं का कारणात्मक निदान करने में समर्थ हो सकेंगे एवं जीवनशैली में उस वांछित परिवर्तन को ला सकेंगे जिसका आह्वान संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव एंटोनियो गुटरेस द्वारा किया गया है कि हमारे समक्ष जीवनशैली में तत्काल आमूल परिवर्तन के अलावा कोई मार्ग शेष नहीं है।

दर्शनशास्त्र विभाग
डॉ. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर-470001 (म. प्र.)

संदर्भ एवं पाद टिप्पणी

1. *एडर्नो, थ्योडोर, (1947), डायलेक्टिस ऑफ इनलाइटनमेंट, पृ. 24, स्टेनफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस,कैलिफोर्निया*
2. *मिश्र, डॉ. हृदयनारायण (1999), पारिस्थितिकी दर्शन, पृ. iii, शेखर प्रकाशन, इलाहाबाद*
3. *वही, पृ. iv*
4. *वही, पृ. iv*
5. *वसुबन्धु (1958), अभिधर्मकोश, अनुवादक आचार्य नरेन्द्र देव, पृ. 304, हिन्दुस्तानी एकेदमी उत्तरप्रदेश, इलाहाबाद*
6. *पाण्डेय, गोविन्द्र चन्द्र (2015), बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ. 72, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

7. बुद्धघोष, आचार्य (2016), विशुद्धिमार्ग, पृ. 105, गौतम बुक सेंटर, दिल्ली
8. टी.आर.वी. मूर्ति (2019), केन्द्रीय बौद्ध दर्शन : माध्यमिकप्रस्थान का एक अध्ययन, पृ. 233 (हिन्दी अनुवादक सच्चिदानंद मिश्र), मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली
9. पाण्डेय, गोविन्द्र चन्द्र (2015), बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ. 73, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान
10. आर्यमैत्रेय (1994), मध्यान्तविभागशास्त्र, पृ. 14, बौद्धभारती प्रकाशन, वाराणसी
11. टी. आर. वी. मूर्ति (2019), केन्द्रीय बौद्ध दर्शन : माध्यमिकप्रस्थान का एक अध्ययन, पृ. 244 (हिन्दी अनुवादक सच्चिदानंद मिश्र), मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली
12. वही, पृ. 233

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सत्ता की समझ

जी.आर. मलकानी प्रणीत 'अ स्टडी ऑफ रियलिटी' का अविकल हिन्दी रूपान्तरण

अनुवादक : अनिल कुमार तिवारी

अध्याय 5 : नित्यता / स्थायित्व

हमने पूर्व के अध्याय में देखा कि सत्ता अपने आप (निजता) में अवश्य कुछ होना चाहिए। नित्यता की अवधारणा इस विचार से घनिष्ठ रूप में संबन्धित है। जो कुछ अनित्य (परिवर्तनशील) है वह हमें उसके पीछे के कारण को खोजने के लिए अनिवार्य रूप से प्रेरित करता है। हम मानते हैं कि यह (अनित्य सत्ता) अपने होने का कारण स्वयं नहीं हो सकती। इसीलिए हम संसार (जोकि अनित्य / परिवर्तनशील सत्ता है) के कारण–बीज को खोजने के लिए बाध्य होते हैं। चूंकि ईश्वर ही नित्यता (स्थायित्व) की शर्त को संतुष्ट करता है, इसलिए हम संसार की (अंतिम) कारणता ईश्वर में देखते हैं। नित्य सत्ता को ही हम वास्तविक मान सकते हैं। किसी सत्ता को अकारण मानने के पीछे वही समस्या है जो किसी अनित्य वस्तु को स्वयंभू मानने में होती है।

कारण का अध्ययन दो प्रकार से किया जा सकता है। पहला, हमारा मन किसी चीज को समझने के लिए उसे अन्य चीजों से जोड़कर देखता है, यह एक तथ्य का विस्तार अनेक तथ्यों तक करता है। यह स्थूल या भौतिक कारणों को समझने की विधि है। परंतु यह विधि किसी चीज को समझने से ज्यादा उसका उत्पादन करने में उपयोगी सिद्ध होती है। दूसरी ओर हमारी प्रवृत्ति अनेक चीजों को किसी एक चीज, उनके सारतत्व, से समझने की होती है। इसमें हम वास्तविकता को मूलतत्त्व से पकड़ने का प्रयास करते हैं, और इस प्रकार हम किसी चीज के प्रति एक समन्वित दृष्टि विकसित करते हैं। ऐसे कारण ही दर्शन के मूल विषय होते हैं और इन्हीं में किसी नित्य और स्थायी आधार की संकल्पना की जा सकती है।

उन्मीलन – वर्ष 37, अंक 2, जुलाई-दिसम्बर 2024
ISSN-0974-0053
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, SI.No. 310

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

(जो) वास्तविक (है वही) स्थायी हो सकता है। परंतु यह तर्क किया जा सकता है कि जिसका कालिक अस्तित्व है (अर्थात् जो अनित्य है) उसमें एक प्रकार की वास्तविकता हो सकती है। कोई चीज इसलिए कमतर (कम वास्तविक) नहीं हो सकती क्योंकि यह अस्थायी है (या इसकी वास्तविकता क्षणिक है/अनंत काल के लिए नहीं है)। इसका कुछ होना ही इसकी वास्तविकता के लिए पर्याप्त है, भले ही यह कुछ क्षण के लिए हो। नित्य सत्ता भले ही अनंत काल के लिए हो, परंतु यह क्षणिक सत्ता को उसकी वास्तविकता से वंचित नहीं कर सकती।

कालिक सत्ता भी वास्तविक हो सकती है। लेकिन कोई यह तर्क नहीं कर सकता कि यह अस्थायी होने के कारण वास्तविक है। यह वास्तविक है क्योंकि इसके 'कुछ होने' की प्रतीति होती है। इस संबंध में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या जिसके कुछ होने की प्रतीति होती है उसकी प्रतीतिमात्र से ही उसे वास्तविक माना जाना चाहिए। निस्संदेह रूप से कुछ दार्शनिक किसी वस्तु की वास्तविकता का अनुमान उस वस्तु के उस रूप में ग्रहण होने मात्र से करते हैं। लेकिन हमें ऐसा प्रतीत होता है कि किसी वस्तु को उस रूप में ग्रहण करने और उसके वैसा होने में कोई तार्किक संबंध नहीं है। परंतु यहाँ न तो हम इस विवाद में पड़ना चाहते हैं और न ही वास्तविकता के अपने अन्तर्ज्ञान के स्वरूप पर ही चर्चा करना चाहते हैं। यह अन्तर्ज्ञान जैसा भी हो, किसी ग्रहीत वस्तु के कुछ होने का अन्तर्ज्ञान या उसके सर्वथा अग्रहण का अन्तर्ज्ञान, हम यह मानकर चलते हैं कि किसी वस्तु की कालावधि उसके अन्तर्ज्ञान के लिए अप्रासंगिक नहीं है। हम किसी वस्तु का निर्धारण इस तरह नहीं करते कि पहले उसे वास्तविक मान लें और इस बात की बिलकुल परवाह न करें कि वह परिवर्तनशील है या अपरिवर्तनशील। किसी वस्तु की कालावधि का विचार उसके स्वरूप या वह क्या है के विचार से अलग नहीं किया जा सकता, और किसी वस्तु की वास्तविकता का निर्धारण बिना यह तय किए नहीं कर सकते कि उसका अस्तित्व अनित्य है या नित्य।

सनातन साहित्य भगवद्गीता में किसी वस्तु की सत्ता और उसकी कालावधि के संदर्भ में एक प्रसिद्ध श्लोक है : नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः (उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।। 2.16।।), अर्थात् असत् का कभी भाव नहीं होता और सत् का कभी अभाव नहीं होता (इन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

दोनों को स्वरूपतः समझने वाले तत्व ज्ञानियों का यही निश्चय है)। प्रथम–दृष्टया तथ्य इस कथन के विरुद्ध मिलते हैं (यह कथन तथ्यों के विरुद्ध लगता है)। क्योंकि सभी उत्पन्न वस्तुएं अपनी उत्पत्ति के पूर्व असत्/अविद्यमान थीं। इस प्रकार इनका उत्पन्न होना यह सिद्ध करता है कि जो असत् था (जिसका अस्तित्व नहीं था) उसका भाव हुआ (वह अस्तित्व में आया)। पुनश्च किसी वस्तु का नष्ट होना दूसरी बात (जिसका भाव है उसका कभी अभाव नहीं हो सकता) को असिद्ध करता है। परंतु यह (आपत्ति) केवल एक सारहीन बात है (वास्तविक बात अधिक गंभीर है)।

किसी कालखण्ड में उत्पन्न वस्तु को सत् कहा जा सकता है, परंतु इस अर्थ में इस वस्तु की पूर्ववर्ती दशा को भी उतना ही सत् मानते हैं। इतना ही नहीं, हम यह भी मानते हैं कि इन (कारण) दशाओं में और वास्तविक घटना में एक (अनिवार्य) नैरन्तर्य है और यह कभी नहीं मानते कि किसी वस्तु का आविर्भाव निरपेक्ष रूप से हुआ (बिना किसी घटना की पूर्वापेक्षा से हुआ)। किसी वस्तु का प्रथम आविर्भाव या किसी अकारण घटना की संकल्पना हमारी बुद्धि से परे की बात है। वास्तव में हमारे लिए कोई वास्तविकता ऐसी नहीं है जो किसी अर्थ में (ज्ञान के) पूर्व से ही वास्तविक न हो– हमारे वास्तविक कहने की पूर्वगामी (वस्तुनिष्ठ) सत्ता। शून्य से जगत की सृष्टि की धारणा का खण्डन भी इसी विश्वास पर आधारित है। या तो हम अकारण घटना की संभावना को स्वीकार करें और यह माने कि जो कुछ भी है वह अपनी उत्पत्ति के क्षण–मात्र में सत् है, उसका कोई आधार उसकी किसी पूर्ववर्ती घटना में नहीं मिलता, या फिर हम यह माने कि जो कुछ भी सत् है वह अनादि है और जहां तक इसकी वास्तविकता का सम्बन्ध है इसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। हम सोचते हैं कि इस प्रकार इस विषय में कोई संदेह नहीं रह जाता। तर्क किसी वास्तविकता से अन्य वास्तविकता की ओर, किसी घटना से उसके कारण की ओर, ही जा सकता है। और भी कि केवल इससे बात नहीं बनेगी कि किसी घटना 'ब' को 'अ' का कारण कह दिया जाय। एक चीज दूसरे की व्याख्या नहीं कर सकती। यदि हमें कारण–कार्य के प्रारूप में बात करना ही है, तो हम कह सकते हैं कि तर्क की अपेक्षा की पूर्ति कार्य–कारण की एकता में ही होती है। क्योंकि कार्य जहाँ तक कारण से भिन्न है वहाँ तक वह कारण में अवास्तविक है, और अवास्तविक कभी भी वास्तविक की व्याख्या नहीं कर सकता। इसलिए

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हमारी तर्कबुद्धि की अपेक्षा है कि वास्तविक सदैव वास्तविक हो और इसी कारण से इसका अस्तित्व परिवर्तनशील बिलकुल न हो (अर्थात् वास्तविक कभी अवास्तविक न हो)।

जो वास्तविक है उसे सदैव वास्तविक होना चाहिए। क्योंकि 'होने' और 'न होने' में कोई निरंतरता नहीं हो सकती, और जिसे एक बार हमने वास्तविक मान लिया उसे सदा वास्तविक मानना पड़ेगा। चलो थोड़ी देर के लिए मान लेते हैं कि कोई चीज है जो विलुप्त हो जाती है। निश्चित रूप से या तो यह अचानक से या धीरे–धीरे विलुप्त होती है। यदि यह अचानक से समाप्त होती है, तो 'जो था' और 'जो है' में कोई निरंतरता नहीं होगी और हम यह भी नहीं कह सकेंगे कि कुछ था जो अब नहीं है। वास्तव में किसी वस्तु के अतीत के अस्तित्व और वर्तमान के अस्तित्व में कोई संबंध–सूत्र नहीं हो सकता। तब हमें यह मानना चाहिए कि वह वस्तु धीरे–धीरे समाप्त होती है। परंतु परिवर्तन कितना भी धीमा हो, किसी चीज के होने और उसके न होने के बीच कोई स्तरीकरण (श्रेणी–व्यवस्था) नहीं हो सकता और जहाँ कहीं ऐसा होता है वहाँ सम्पूर्ण विलगाव होता है। और एकबार फिर हम यह नहीं कह सकते कि जो चीज कभी थी वह अब नहीं है। इस कथन का औचित्य केवल तभी है जब यह दिखाया जा सके कि जिस चीज का अस्तित्व समाप्त हो जाता है वह अपने अंत की कल्पना में भी प्रमाणित है। लेकिन तब इसका अस्तित्व कभी समाप्त नहीं हो सकता।

किसी चीज की समाप्ति केवल एक निश्चित प्रक्रिया द्वारा ही हो सकती है। इस प्रक्रिया की शुरुआत उस चीज में ही हो सकती है। लेकिन जहाँ प्रक्रिया शुरू होती है वहाँ हमें एक नयी शुरुआत मिलती है, न कि किसी चीज का अंत। फिर यह कहने का क्या अर्थ है कि प्रक्रिया की शुरुआत उस चीज में ही होती है या यह किसी चीज के अंत का सूचक है? यह तो चीज को कहीं छूती तक नहीं। और यह कहना लगभग उतना ही सच है कि चीज समाप्त हो गई है, जितना कि कुछ भी समाप्त नहीं हुआ है। इसके अलावा, किसी चीज के अंत की प्रक्रिया की शुरुआत को वास्तविक अस्तित्व के किसी भी अंतराल द्वारा इस अंत से अलग नहीं किया जा सकता है। तब वह अपने अंत समय में कुछ भी नहीं था, वह तब भी कुछ नहीं था जब उसकी समाप्ति हुई।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यह तर्क देना कि वह अंत से पहले कुछ था, बिलकुल अप्रासंगिक है। क्योंकि कोई चीज कभी भी ख़त्म हो चुकी चीज नहीं दिखाई जा सकती। इसमें कोई संदेह नहीं है कि हमारे विचार की स्थिर कल्पना हमें पहले किसी चीज के अस्तित्व की कल्पना करने और फिर उसपर उसके अस्तित्व की समाप्ति का आरोपण करने को बाध्य करती है। लेकिन अंत का आरोपण कभी नहीं हो सकता। एक तरफ वस्तु का अस्तित्व है और दूसरी ओर उसके अस्तित्व से कुछ भिन्न, और दोनों में कोई तार्किक संबंध नहीं मिलता।

इससे हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि जो शुरू में नहीं है और जिसका अंत में अस्तित्व नहीं, और जिसकी बीच में केवल प्रतीति होती है, वह वास्तविक नहीं होती। यह (प्रातिभासिक सत्ता) हमारे अस्तित्व के प्रति गहन अन्तर्ज्ञान को खंडित करती है, जो, जैसा कि हमने देखा है, न तो अस्तित्व में आ सकती है, और न ही इससे बाहर जा सकती है।

(यहाँ) यह नहीं समझा जाना चाहिए कि हम वास्तविकता पर यह नियम आरोपित करना चाहते हैं कि इसे कालिक रूप से अंतहीन होना चाहिए। ऐसी अनंतता वास्तव में एक यांत्रिक चीज होगी और वास्तविकता को महिमा मंडित नहीं करेगी। लेकिन वास्तविकता, चाहे कुछ भी हो, उसका ऐसा चरित्र होना चाहिए जो परिवर्तन से अप्रभावित हो। इसी में इसकी वास्तविक नित्यता निहित है; और यह केवल इसकी एक अपरिष्कृत छवि है जिसे हम कालिक नित्यता की धारणा में पाते हैं।

अध्याय 6 : नित्यता की छवि

जैसा कि हमने देखा कि नित्यता कालातीत होनी चाहिए। लेकिन किस प्रकार की चीज वास्तव में ऐसे चरित्र वाली होगी? सबसे पहले प्रकृति में उपलब्ध वस्तुएं हैं। वे परिवर्तनशील हैं। फिर भी ऐसा संभव है कि किसी प्राकृतिक वस्तु के सार और उसके कालातीत होने की धारणा के बीच कोई आंतरिक विसंगति न हो। परंतु,यह सार क्या हो सकता है? वास्तव में सार की कैसी भी अवधारणा की जाय, यह ऐंद्रिक होगा; और भी कि यह जिस संबंध का आपादन करेगा उसकी कभी कालिक सत्ता नहीं होगी। इंद्रियग्राह्य वस्तु और अनुभवकर्ता के जैविक शरीर के बीच संबंध की अनिश्चितता के अलावा, वस्तु को संवेदन का विषय बनने के लिए उस पर ध्यान देना आवश्यक है; और ध्यान में वस्तु के केंद्र का निरंतर परिवर्तन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

शामिल है। सामान्य बुद्धि ध्यान के लिए वस्तु में स्थिरता आवश्यक मानती है। परंतु ऐसा होने पर ध्यान की संभावना ही समाप्त हो जाती है। इसका (ध्यान का) सार इसमें हैं कि (ध्येय) वस्तु के आयाम और अर्थ में निरंतर परिवर्तन होता रहे। यह (ध्यान) बदले में इसका (वस्तु का) विस्तार और प्रतिबंध करता है। ध्यान केवल एक दृष्टिकोण को ठीक करना नहीं है; यह एक बौद्धिक प्रक्रिया है; और जब यह प्रक्रिया किसी चीज के बारे में हमारे ज्ञान में आपादित होती है, तो हमें कभी भी उस वस्तु के बारे में एक स्थिर दृष्टिकोण नहीं प्राप्त हो सकता है। चीजें अपरिवर्तित दिखाई देती हैं, क्योंकि उन्हें आभासी वर्तमान में देखा जाता है और आभासी वर्तमान कमोबेश भ्रष्ट ध्यान का परिणाम है।

अंत में यह विचार आता है कि किसी चीज को केवल अनुभव नहीं किया जाता है। अनुभव में आने के साथ–साथ यह संबंधित भी होती है। इसलिए कोई वस्तु कैसी दिखाई देगी यह इस बात पर भी निर्भर करता है कि विचार उसके और अन्य वस्तुओं के बीच किस प्रकार का संबंध स्थापित करता है। यह एक सर्वविदित विचार है कि एक वस्तु एक सामान्य बुद्धि के व्यक्ति को एक प्रकार से दिखाई दे और एक वैज्ञानिक को दूसरी भाँति। हम कहते हैं कि वैज्ञानिक की समझ व्यापक है क्योंकि उसको अधिक ज्ञान है; यह ज्ञान सम्बन्धों का ज्ञान है। एक वस्तु वह है जो वह उन संबंधों के अनुसार है जो प्रत्येक व्यक्ति, अपनी रुचि और बुद्धि द्वारा निर्देशित होकर, उसके और अन्य वस्तुओं के बीच स्थापित करता है। इसलिए इंद्रियग्राह्य वस्तु को नित्य कहने का कोई अर्थ नहीं है। इंद्रियग्राह्य वस्तु वह है जैसा उसे देखा गया है। और जिसे जैसा देखा जाता है, उसमें वह स्वतंत्रता नहीं हो सकती जो नित्यता की धारणा का अवग्रहण करने के लिए आवश्यक है। अभी तक हमने प्राकृतिक वस्तुओं को इंद्रियग्राह्य वस्तु के पर्याय के रूप में देखा है। लेकिन यह सोचना संभव है कि वे इससे अधिक हैं। वे भौतिक हैं, और अपने आप में किसी बौद्धिक प्राणी से कोई संबंध नहीं दर्शाते हैं। अब हमें पदार्थ की प्रकृति को विशुद्ध रूप से वस्तुनिष्ठ तरीके से लेते हुए किस रूप में मानना चाहिए?

यह स्पष्ट है कि हम पदार्थ को जो कुछ भी समझें उसे विस्तार से असम्बद्ध करके नहीं समझ सकते। पदार्थ के बारे में हमारे विचार और विस्तार के संबंध की यही सच्चाई है कि हम उन्हें एक दूसरे के पदों में समझ

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सकें। पदार्थ वह है जिसके भाग हैं (वे सावयव हैं)। और (उनमें) एकमात्र महत्त्वपूर्ण गुण यह प्रतीत होता है कि वे परस्पर (दैशिक रूप से) पृथक हैं (वे अलग–अलग देश में स्थित हैं)। हालाँकि, यह देखना मुश्किल नहीं है कि एक सीमा के बाद अन्योन्याभाव (एक का दूसरे में अभाव) उनके अस्तित्व के बारे में कुछ भी नहीं दिखा सकेगा या जिसे द्रव्य कहा जा सके। दैशिक विशेषण शुद्ध ज्यामिति के बिन्दु जैसी स्थिति उत्पन्न करेगा जिनका साधारण अर्थ में कोई भौतिक अस्तित्व नहीं हो सकता। इस प्रकार कल्पित भौतिक पदार्थ की निरंतरता किसी भी तरह से शुद्ध देश के सातत्य से भिन्न नहीं होगी। परंतु पदार्थ देश नहीं है। और एक चीज जो पदार्थ को देश से पृथक करती है वह यह है कि देश के भाग चित्र की भाँति (निष्क्रिय होने के कारण) अगल–बगल हो सकते हैं, पदार्थ के भाग सक्रिय होते हैं; वे वास्तव में देश के निष्क्रिय बिन्दुओं के उलट ऊर्जा के केंद्र होते हैं। पदार्थ के कुछ अवयव होते हैं और ये उसी सीमा तक भौतिक होते हैं जहाँ तक वे परस्पर प्रभाव डालते हैं और सामान्यतः किसी चीज पर प्रभाव डालते हैं।

परंतु अभी तक हम पदार्थ के तह तक नहीं पहुँच सके है। पदार्थ के अवयव देश में स्थित हैं। इन अवयवों को हमने ऊर्जा के केन्द्र के रूप में देखा है। लेकिन हमें "ऊर्जा के केंद्र" के बारे में कोई ज्ञान नहीं है। इसे हम किसी सारतत्त्व (द्रव्य) के रूप में समझ रहे हैं। लेकिन एक द्रव्य, इसे हम जिस भी रूप में सोचें, कुछ है जिसका बस भाव (अस्तित्व–मात्र) है, न कि कुछ क्रियाशील जैसा। ऊर्जा का केंद्र दूसरी तरफ भाव–मात्र नहीं हो सकता हालांकि जब हम इसपर विचार करते हैं तो इसे किसी स्थायी चीज से अलग नहीं देख पाते, या इसे नितांत निष्क्रिय पदार्थ के रूप में ही देख पाते हैं। हमारे मन में ऊर्जा के केंद्र जैसा कोई चित्र या विचार नहीं मिलता।

वास्तव में ऐसे किसी केंद्र की कल्पना की आवश्यकता भी नहीं है। इससे पदार्थ के सामान्य प्रभाव के बारे में कोई व्याख्या भी नहीं मिलती। वस्तुतः यह विचार स्वयं में अबोधगम्य है। पदार्थ की सामान्य प्रभावशीलता को यह मानकर बेहतर ढंग से समझा गया है कि इसमें केवल देश और काल तत्त्वों का एक विशेष पुट होता है। यदि जिसे हम पदार्थ के अवयव कहते हैं, वह अनंत देश में स्थित हों, तो वे बिना किसी चीज पर कोई प्रभाव डाले एक–दूसरे के आस–पास पड़े रहेंगे। यदि वे सीधे तौर पर अनंत काल में हों, तो वे उसी तरह एक–दूसरे के बाद आएंगे जैसे किसी धारावाहिक के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

चित्र स्क्रीन पर एक के बाद एक आते रहते हैं। ये चित्र एक–दूसरे को निर्धारित नहीं करते,एक–दूसरे पर कोई प्रभाव नहीं डालते, या सामान्य तौर पर कुछ भी प्रभावित नहीं करते। यह प्रभावशीलता काल और देश के उस पारस्परिक आपादन से ही संभव हो पाती है जिसके कारण कोई दो पदार्थ अ और ब किसी देश स को एक ही काल द में नहीं छेंक सकते। हम किसी प्रकार के द्रव्य की संकल्पना कर सकते हैं। लेकिन यह उस प्रभावशीलता की व्याख्या नहीं कर सकता जिसे हम पदार्थ के अवयवों पर आरोपित करते हैं। यहां तक कि ऊर्जा का विचार भी बहुत अस्पष्ट है और जब हम संचालन में एक ऊर्जा की कल्पना करते हैं, तो एकमात्र छवि जो हमारे मन में आती है वह वह है जिसे हमने पहले संकेत किया है, अर्थात् दैशिक और कालिक तत्वों की जटिलता जिसके कारण सत्ता की दो अलग–अलग इकाइयों के लिए एक ही कालखंड में एक स्थान को घेरना असंभव हो जाता है।

हमने, उस प्रभाव के चरित्र को समझने के अपने प्रयास में, जिसे हम पदार्थ का गुण मानते हैं, अस्तित्व की कुछ इकाइयों को प्रतिपादित किया है। एक स्वाभाविक प्रश्न उठेगा : ये इकाइयां यदि पदार्थ नहीं तो क्या हैं? हम स्वीकार करते हैं कि इस दुष्चक्र से बाहर जाना संभव नहीं है। हम अधिक से अधिक यह कह सकते हैं कि ये इकाइयां स्वयं में पदार्थ की व्याख्या नहीं करतीं। यह कहा जा सकता है कि भौतिकता का संवेदना से परे एकमात्र वैज्ञानिक आधार प्रभावों का उत्पादन है; और यह तभी समझा जा सकता है जब पदार्थ को एक दैशिक एवं कालिक परिवर्तन का रूप माना जाय। लेकिन हम इस अवधारणा को सुगम नहीं मानते।

आधुनिक विज्ञान में पदार्थ की एक निश्चित काव्यात्मक अवधारणा प्रचलित है। पदार्थ का संगठन इलेक्ट्रॉन या विद्युत ऊर्जा के केंद्रों से माना जाता है। यह माना जाता है कि ये इलेक्ट्रॉन अपरिवर्तनशील हैं। वे वास्तव में पदार्थ के मौलिक तत्त्व हैं। हम यह नहीं जानते कि इलेक्ट्रॉन की आंतरिक संरचना क्या है। शायद कोई भी (इस संबंध में) संकल्पना से परे नहीं जा सका है। और इस संबंध में हमें कहीं–न–कहीं कल्पना को विराम देना ही होगा। हमें यह मानना होगा कि जो कुछ भी हम जानते हैं वह कुछ निश्चित घटनाएँ हैं, और पदार्थ के मौलिक तत्त्व, यदि कुछ ऐसा है, हमारे लिए रहस्य हैं। फिर भी इलेक्ट्रॉन के बारे में जो कुछ भी हमें बताया गया है उससे हम अपना निष्कर्ष निकाल सकते हैं। इलेक्ट्रॉन प्रकृति के अविनाशी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

और नित्य घटक हैं। साथ–ही, वे देश में गतिमान हैं तथा उन्हें उनके रास्ते से विचलित किया जा सकता है। अब क्या हम किसी ऐसी वास्तविक अपरिवर्तनशील वस्तु की कल्पना कर सकते हैं जिसे बाहर से प्रेरित किया जा सकता है? मैं सोचता हूँ हम ऐसा नहीं कर सकते। आवेग को (वस्तु) स्थिति के आंतरिक दशा में प्रभावी होना चाहिए, और केवल उसी दशा में वस्तु को आवश्यक समायोजन करना पड़ सकता है। वास्तव में स्व–चेतन सत्ता के संबंध में हम आंतरिक और बाहरी सत्ता के बीच वास्तविक अंतर कर सकते हैं, और हम यह भी कह सकते हैं कि इसकी आंतरिक एकता इसके बाहरी परिवर्तन और गति के साथ बिलकुल संगत है। परंतु जिसमें अपनी एकता की चेतना का अभाव हो उसमें आंतरिक और बाहरी सत्ता जैसा कोई भेद नहीं हो सकता; और ऐसी किसी चीज के बाहरी अस्तित्व की गति और आंतरिक अस्तित्व की गति में अंतर नहीं होता। ऐसा कोई भी आंतरिक अस्तित्व नहीं है जो बाहरी गतिविधि में शामिल न हो।

हम पदार्थ की संकल्पना करने की कोशिश कर सकते हैं, परंतु यह हमें कभी भी नित्यता की सच्ची छवि प्रदान नहीं कर सकता है। हम जो कुछ भी प्राप्त कर सकते हैं वह कुछ निश्चित प्रक्रियाएँ या घटनाएँ हैं; हम कभी भी वस्तु तक नहीं पहुँच सकते, किसी स्व–चेतन वस्तु तक तो बिलकुल भी नहीं। और केवल बाद वाला (स्व–चेतन सत्ता) ही हमें वह छवि प्रदान कर सकती है जो हम चाहते हैं।

अध्याय 7 : नित्यता की छवि (क्रमशः)

जिसका इंद्रियों द्वारा ग्रहण किया जा सकता है उनका देश–काल में अस्तित्व होता है; और इनमें हम वही नित्यता आरोपित कर सकते हैं जिसका विवरण इंद्रियों के साक्ष्य पर ही दिया जा सके। हम आगे यह भी कह सकते हैं कि जो कुछ भी स्व–प्रमाणित और स्व–निर्धारित नहीं है, उसमें अस्तित्व की वास्तविक एकता नहीं हो सकती है; यह बस वैसा ही होगा जैसा इसे देखा जाता है; और जो जैसा दिखता है वैसा ही उसका नित्य अस्तित्व नहीं हो सकता।

एकमात्र चीज जो वास्तविक और स्व–प्रमाणित है परंतु प्रदर्शित करने योग्य नहीं है वह है व्यक्ति का आत्मभाव। प्रत्येक व्यक्ति को अपने होने का बोध है, और वह यह भी जानता है कि उसके होने के भाव का कोई प्रतिबिंब नहीं हो सकता। उसको कभी अपने होने पर संदेह भी नहीं होता।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

और यदि वह अपने आत्म–बोध के साक्ष्य की जाँच करे जिसके आधार पर वह स्वयं को जानता है, तो वह कुछ भी नहीं दिखा पायेगा। वह अधिक से अधिक यह कह सकता है कि "मुझे अपने होने का अन्तर्ज्ञान है, और यह अन्तर्ज्ञान अन्य वस्तुओं के बारे में मेरी निश्चितता का आधार है।" आत्मबोध की अन्तर्ज्ञान विषयक यह निश्चितता कोई संदिग्ध अनुभूति नहीं है। यह होने की चेतना है। यह एकमात्र चेतना (अनुभूति) है जिसका विश्लेषण विषयि–विषय प्रारूप में असंभव है।

इसके अलावा, मेरे पास अपने होने की चेतना ऐसी चीज की चेतना है जो कभी किसी क्षण में उपलब्ध अन्तर्ज्ञान में अन्यथा नहीं हो सकती। आत्म–बोध अपने स्वरूप में परिवर्तनशील नहीं हो सकता। हमारे लिए जो विषय है वह एक समय में एक और दूसरे समय में बिलकुल दूसरा हो सकता है, हालाँकि हम इसमें अंतर देखने से चूक सकते हैं। यह कुछ ऐसा है जिसे मैं कभी भी भीतर से नहीं समझ पाता और जिस तरह से मैं इसके बारे में जानता हूं वह अनिवार्य रूप से मेरे ज्ञान पर अनिश्चितता का धब्बा लगाता है। मेरा होना मेरे लिए वस्तु नहीं है। यह अपने अंतरतम में जो है उसके अलावा इसके बारे में अन्यथा नहीं जाना जा सकता। फिर, जिसकी कई किस्में हो सकती हैं वह कभी भिन्न हो सकता है। लेकिन जो चीज भिन्नताओं की पृष्ठभूमि में है और जो उनके ज्ञान को संभव बनाती है, उसे यह नहीं माना जा सकता कि वह स्वयं कभी भिन्न होगी। जब हम किस्मों के बारे में सोचते हैं, तो हम स्वाभाविक रूप से वस्तुनिष्ठ अस्तित्व के बारे में सोचते हैं क्योंकि उसे विभेदित किया जा सकता है। प्रत्येक वस्तु का एक निश्चित चरित्र होता है, वह चरित्र जो एक दूसरा चरित्र बन सकता है। लेकिन जिसका चरित्र नहीं है, उससे उसके चरित्र को बदलने की उम्मीद नहीं की जा सकती। फिर स्वयं को किसमें बदलना है? स्वयं से भिन्न बनना कितना अलग है? एकमात्र चरित्र जो हम इसे दे सकते हैं वह है अस्तित्व का चरित्र और अस्तित्व को किसी अन्य चीज में परिवर्तित नहीं किया जा सकता, यह वही है जो बस है और हमेशा रहेगा।

यह तर्क नहीं दिया जा सकता कि जब तक हम सचेत और जागृत हैं तब तक यह सब ठीक है। लेकिन हमारे पास क्या प्रमाण है कि हम सदैव बुद्धिमान बने रहेंगे, या किसी गैर–बुद्धिमान व्यक्ति में परिवर्तित नहीं होंगे? बल्कि हमारे पास जो भी प्रमाण हैं, वे विपरीत दिशा की ओर इशारा करते

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हैं। नींद में हमें कुछ भी पता नहीं चलता। और मृत्यु में चेतना कभी वापस नहीं आती। यदि अब एक बुद्धियुक्त आत्मा में विश्वास के लिए हमारा एकमात्र आधार हमारी स्वयं की चेतना है, तो यह कैसे सिद्ध किया जा सकता है कि जब यह चेतना अनुपस्थित है तो स्वयं का अस्तित्व बना रहता है? यदि आत्मा बुद्धिमती है और अपरिवर्तित रहती है, तो अब हमारे पास इसकी जो चेतना है वह हमेशा बनी रहनी चाहिए।

यह देखना कठिन नहीं है कि हममें अभी जो स्वयं के होने की चेतना है वह एक सीमित अर्थ में बाधित होती है। हम इस चेतना के बारे में उसी तरह विचार करते हैं जैसे हम अ, ब, या स जैसी किसी वस्तु के बारे में विचार करते हैं। और जैसे यह माना जा सकता है कि इन वस्तुओं की चेतना खत्म हो सकती है वैसे ही हममें अपने होने की चेतना का भी लोप हो सकता है। यदि आत्मा की व्याख्या वस्तु से तुलना करके न की जाय और उसकी चेतना की व्याख्या वस्तु की चेतना से न की जाय तो आत्म–चेतना के लोप की बात निरर्थक होगी। हालांकि हम कल्पना के कितने भी घोड़े दौड़ा लें, चेतना के लोप को केवल किसी निश्चित वस्तु के लोप से ही समझ सकते हैं। हम ऐसी चेतना के लोप की कल्पना भी नहीं कर सकते जो आत्मा पर समुचित रूप से लागू हो। क्योंकि आत्मा और इसकी चेतना दो भिन्न चीजें नहीं हैं। चेतना के अभाव की दशा केवल किसी वस्तु से संबन्धित हो सकती है, न कि उसके लिए जिसे इस चेतना के अभाव का बोध होता है। संक्षेप में कहें तो वास्तव में आत्मा के स्वचेतन और बुद्धिमती होने के अलावा उसके बारे में कोई सकारात्मक जानकारी नहीं है और न ही कभी हो सकती है। और जब हम आत्मा के न होने या बुद्धिहीन होने की बात करते हैं तो या तो हम उसकी बात करते हैं जो अनात्म (अचेतन वस्तु) है या अर्थहीन शब्द का उच्चारण मात्र कर रहे होते हैं। आत्मा की चेतना के लोप की बात एक ही अर्थ में संभावित हो सकती है और वह है सभी वस्तुओं की चेतना का अभाव, जैसे गहरी नींद में होता है।

अभी तक हम ऐसा स्वीकार करते प्रतीत होते हैं कि हममें सभी वस्तुओं की चेतना का अभाव हो सकता है। परंतु क्या ऐसा वास्तव में है? इस पर विचार करना रोचक होगा। बाह्य वस्तुओं की प्रतीति के बारे में यह सच है कि हममें कभी–कभी उनकी चेतना का लोप होता है। लेकिन जब हम सभी वस्तुओं को चेतना से बाहर निकाल देते हैं तब क्या हम वास्तव में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अंधेरे या "वस्तु के अभाव" की छवि के साथ रूबरू नहीं हो रहे होते हैं? और क्या हमें यकीन है कि यह छवि स्वयं में एक वस्तु नहीं है, और उन सभी वस्तुओं का संकेत नहीं देती है जो इसे नकारात्मक लगती हैं? यहाँ प्रश्न किसी भी अनिश्चितता को स्वीकार नहीं करना है। जब हमारी नींद में सभी वस्तुओं का निषेध हो जाता है तो नींद स्वयं में विचार की वस्तु बन जाती है। वह (नींद) स्वयं में अभाव नहीं है। यह एक निश्चित छवि है–एक ऐसी छवि जो जागृति की सभी छवियों का संकेत करती है। नींद नींद ही नहीं रहेगी यदि इसे किसी वस्तु के रूप में न देखा जाय। तथाकथित वास्तविक नींद, जिसमें हमें किसी चीज का बोध नहीं होता, में इसकी अपनी कोई छवि नहीं होती। यह किसी भी अर्थ में नींद नहीं है जिसके बारे में हम महत्वपूर्ण रूप से बात कर सकें। एकमात्र स्थिति जिसे हम नींद के रूप में महत्त्वपूर्ण रूप से बोल सकते हैं वह ऐसी स्थिति है जो हमारे सामने अंधेरे की छवि के रूप में प्रस्तुत होती है, इसलिए यह एक वस्तु है। हमें वास्तव में अपने अस्तित्व की उस स्थिति का कोई अनुभव नहीं है जिसमें कोई भी वस्तु हमारे सामने प्रस्तुत नहीं है। हम एक गलती कर रहे होते हैं जब यह मानते हैं कि नींद एक दशा है और (नींद में) हम उस दशा के प्रति जागरूक होते हैं। उससे भी बड़ी गलती तब करते हैं जब हम यह मानते हैं कि जब (हमारे समक्ष) कोई भी वस्तु प्रस्तुत नहीं है तो आत्मा स्वयं अंधेरे में (अचेतन) है या बुद्धि से विलग हो अस्तित्वहीन हो गयी है। अंधेरा आत्मा का विषय है। आत्मा में अंधेरे का विषय होने के बारे में हम क्या सोचते हैं? अभाव की अवधारणा किसी वस्तु के भाव के संदर्भ में ही की जा सकती है और यह उस वस्तु का संकेत करता है (अर्थात् अभाव किसी भाव का ही संकेत करता है)। हम किसी ऐसी चीज के अभाव की संकल्पना कैसे कर सकते हैं जो कभी रही ही न हो और जिसका अभाव, यदि वास्तविक होता, किसी द्वारा जाना न गया होता?

हमने बताया कि हम अपने होने की ऐसी दशा के बारे में विचार नहीं कर सकते जिसमें कोई वस्तु प्रस्तुत ही न हो। लेकिन इसका मतलब क्या यह है कि हम वास्तव में कभी नींद में जाते ही नहीं, और नींद जागने का ही एक विचार है? मैं सोचता हूँ कि नींद को जागने का ही एक विचार मानना वैसी ही बड़ी भूल है जैसे इसे एक विषयवस्तु न कहकर आत्मा की ही एक दशा कहना। नींद हमारे जाग्रत जीवन का एक विचार नहीं है। इस जीवन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

के संबंध में यह बिलकुल वास्तविक है। हम और आगे बढ़ेंगे। जिसे हम जाग्रत जीवन कहते हैं वह नींद से संबन्धित है। यह नींद के उपरांत की दशा है। यदि नींद के संदर्भ को छोड़ दें तो हम यह कभी नहीं जान पाएंगे कि हम जाग रहे हैं। वस्तुतः जागने का अर्थ है नींद से जागना। जाग्रत दशा आत्मा की स्वाभाविक दशा नहीं है। यदि ऐसा होता, तो हमें कभी भी इसके बारे में एक वस्तु के रूप में, या किसी अन्य वस्तु के साथ इसके आकारिक रूप में घनिष्ठ रूप से जुड़ी होने के बारे में जागरूक नहीं होते। जैसा कि वास्तव में है, नींद से जागने पर ही हम स्वयं को जाग्रत के रूप में जानते हैं। इस संबंध के अलावा जागृति की कोई अन्य चेतना नहीं है, यह ऐसा नहीं होता यदि यह आत्मा की स्वाभाविक स्थिति होती।

यह नहीं कहा जा सकता कि नींद बुद्धियुक्त आत्मा पर हावी हो जाती है। क्योंकि यह इसकी विषयवस्तु है। न ही जागृति को इसका वास्तविक स्वरूप कहा जा सकता है। क्योंकि यह भी आत्मा का विषय है। आत्मा की वास्तविक प्रकृति केवल वह अन्तर्ज्ञान है जिसमें निद्रा और जागरण दोनों वस्तुओं के रूप में अन्तर्ज्ञान में उपलब्ध होते हैं, और इसलिए इसे कभी भी सोई या जागी हुई नहीं माना जा सकता है। आत्मा के वास्तविक स्वरूप को केवल इसी रूप में जाना–समझा जा सकता है। आत्मा वह है जो न सोती है और न जागती है। यह वह अन्य जागृति (चेतन दशा) है जिसके अन्तर्ज्ञान में ये बदलती अवस्थाएँ स्वयं उपलब्ध होती हैं, और इसलिए वह कभी भी निरुद्ध नहीं हो सकती है।

हमने अपना तर्क उस स्थिति पर विचार करके बनाया है जिसे हम नींद कहते हैं। हालाँकि, यह कहा जा सकता है कि पूर्ण बेहोशी की स्थिति में नींद नहीं होती है, और जिसे हम नींद कहते हैं वह केवल एक निश्चित स्तर से नीचे की चेतना है। अब वास्तव में यदि यह सच है, तो हमें किसी भी तरह और कहीं न कहीं इस तथ्य से अवगत होना चाहिए। नींद में हमें इसका पता नहीं चलता। और जब हम जागते हैं, तो हम अपने चेतन जीवन में, जिसे हम अपनी नींद के रूप में जानते हैं, एक पूर्ण अंतराल पाते हैं। और यह अनुभव का एकमात्र महत्वपूर्ण तथ्य है जिसका उल्लेख यह समझने की कोशिश में किया जा सकता है कि नींद क्या है। परंतु यदि हम कहीं भी चेतना में रुकावट में विश्वास नहीं करते, तो बेहोशी जैसी कोई समस्या नहीं होनी चाहिए, और हमें इस बात से संतुष्ट होना चाहिए कि आत्म–चेतना

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सदैव अक्षुण्य रहती है, और यह भी कि आत्मा को अन्तर्ज्ञान में उपलब्ध दशा से भिन्न नहीं होना चाहिए। इस समस्या के तथ्य से पता चलता है कि नींद को केवल चेतन और जाग्रत जीवन के संदर्भ में नहीं समझाया जा सकता है।

यहाँ यह विचार किया जा सकता है कि बेहोशी की समस्या अभी भी मृत्यु के तथ्य पर आधारित हो सकती है। लेकिन मृत्यु का एकमात्र व्यक्तिगत संकेत हमें नींद के वास्तविक अनुभव में ही मिल सकता है। यह वह छवि है जिससे भयभीत हो हम मृत्यु से डरने लगते हैं। कहा जा सकता है कि वास्तव में नींद में हम जो अनुभव करते हैं, उसकी अपेक्षा मृत्यु में कोई बड़ा नुकसान या गहरी बेहोशी नहीं हो सकती। इनमें एकमात्र अंतर यह प्रतीत होता है कि एक मामले में चेतना वापस आती है, और दूसरे में इसकी वापसी समस्याग्रस्त होती है। लेकिन अगर छवि बिल्कुल वैसी ही है, तो उस छवि की वस्तुनिष्ठता पर कभी भी विवाद नहीं किया जा सकता; और (क्षणिक) नींद पर लागू होने वाला प्रत्येक तर्क उस लंबी नींद पर भी लागू होगा जिसे हम मृत्यु कहते हैं। बेहोशी एक ही प्रकार की होती है; और वही आत्मा के लिए एक वस्तु बनती है। यह कभी भी आत्मा की स्थिति नहीं हो सकती क्योंकि आत्मा कभी भी स्वयं के लिए वस्तु नहीं हो सकती।

अध्याय 8 : नित्यता की छवि (क्रमशः)

हमने अभी तक यह दिखाने की कोशिश की है कि (हमारा) कोई भी अनुभव यह संकेत नहीं करता कि आत्मा का किसी समय अभाव होता है। हालांकि यह तर्क किया जा सकता है कि अभी तक विचार में की गयी आत्मा की अवधारणा समुचित नहीं है। आत्मा केवल अमूर्त और रिक्त अहं या मैं की अनुभूति नहीं है। यह एक वास्तविक सत्ता है जो हमारे सम्पूर्ण मानसिक जीवन में भागीदारी करती है। यह वह है जो जानता है, अनुभव करता है और कर्मों का संपादक है। और जो इन सब कार्यों का निष्पादक है उसे एक अपरिवर्तित इकाई नहीं माना जा सकता। आत्मा का अपना जीवन भी है। जीवन का अर्थ है परिवर्तन और वृद्धि। हम आत्मा को कालातीत और नित्यता की छवि कैसे मान सकते हैं?

आत्मा को ज्ञाता माना जाता है। और यह तर्क किया जाता है कि यह यदि क्रियाशील नहीं है और इसपर बाह्य प्रेरणा नहीं है तो यह ज्ञाता नहीं हो सकता। तो हम यह मान लेते हैं कि इसे एक निश्चित प्रेरणा बाहर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

से प्राप्त हो सकती है। परंतु यह उसी को प्रभावित कर सकती है जिसका जड़ तत्त्व से संयोग हो और इस प्रकार भौतिक हो। हमारी आत्मा की चेतना कुछ ऐसी है जिसका भौतिक तत्त्व से दूर का भी नाता नहीं कहा जा सकता है। और भी कि यदि आत्मा किसी भी तरह बाह्य प्रभाव से प्रभावित हो सकती है, तो यह उस प्रक्रिया में शामिल होगी जो इसके मनोवेग का गठन करती है। तब ऐसा कुछ भी नहीं बचेगा जो मनोवेगों को जानने पहचानने की भूमिका में होगा। निस्संदेह, हम एक निश्चित प्रक्रिया को वास्तविक ज्ञान से पहले मानते हैं। ज्ञान स्वयं यह प्रक्रिया हो नहीं सकता। और जब ज्ञान उत्पन्न होता है तो प्रक्रिया शांत हो जाती है। किसी निश्चित तथ्य की साधारण चेतना पर विचार करते हैं। यह चेतन घटित हुई क्योंकि जो चेतन है, यानि आत्मा, वह स्वयं में अपरिवर्तित रहती है। हम आत्मा के ज्ञान में सक्रिय होने की बात करते हैं। परंतु यह उपचार मात्र है। यदि आत्मा सक्रिय होने में परिवर्तित हो जाय, तो यह स्थिति की गलत व्याख्या से ही हम इस गतिविधि को आत्मा की गतिविधि कह पाएंगे। आवेग की वास्तविक उत्पत्ति बिल्कुल निर्वैयक्तिक होगी। परंतु साथ ही हम किसको उसकी गतिविधि बना सकते हैं जिसमें आत्मा अपरिवर्तित इकाई ही रहे? हम गतिविधि को इसके साथ कैसे जोड़ सकते हैं?

आत्मा को प्रसन्न या अप्रसन्न और अनेक दशाओं से गुजरने वाली कहा जाता है। लेकिन यह कोई नहीं कह सकता कि आत्मा स्वयं सुख हो जाती है। फिर आत्मा स्वयं कैसे प्रभावित होगी? क्या सभी सुख और दुख कुछ मानसिक स्थितियों की चेतना नहीं हैं, जिनसे वह (चेतना) वास्तव में अलग है? यदि आत्मा परिवर्तनशील हो, तो हमें इस बेतुकी बात को मानना होगा कि आत्मा बिना यह जाने कि वह प्रसन्न है प्रसन्न हो सकती है, और यह भी कि वह अप्रसन्न हो सकती है बिना यह जाने कि वह अप्रसन्न है। परन्तु बिना जाने यह कैसे कहा जा सकता है कि वह वास्तव में प्रसन्न है या दुःखी? वस्तुतः इसी खुशी या दुख के संज्ञान में आत्मा का सुखी या दुखी होना निहित है। भले ही यह विरोधाभासी लगे लेकिन आत्मा आनंद लेते हुए भी आनंद नहीं लेती है; दुखी होते हुए भी दुखी नहीं होती है। यह सभी दशाओं में तथाकथित सुख–दुख से अप्रभावित रहती है।

कहते है कि आत्मा कुछ चीजों की इच्छा करती है और उन्हें करती है। और यह तर्क दिया जाता है कि ऐसा बिना किसी आंतरिक निश्चय के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

संभव नहीं है जो कि परिणामतः अस्तित्व के परिवर्तन कि दशा है। हालांकि एक बार फिर हमारे सामने अस्तित्व की एक सतही दृष्टि प्रस्तुत है। यदि यह सत्य है कि आत्मा सभी स्वैच्छिक कार्यों में आंतरिक रूप से स्वनिर्धारित होती है तो यह उन कार्यों की इच्छा करने के बाद वही नहीं होगी जो पहले थी। लेकिन यदि यह वही नहीं है तो यह अपने द्वारा इच्छित कार्य के प्रति जागरूक कैसे हो सकती है? जो व्यक्ति अब तक आंतरिक रूप से अनिर्धारित है उसने इच्छा नहीं की उसे स्वयं में किसी ऐसे कार्य के प्रति जागरूक नहीं कहा जा सकता। जो व्यक्ति निश्चय पर पहुँच चुका है वह (निश्चय के) पहले वाला व्यक्ति नहीं रह गया है वह अपने को कृत–निश्चय पा सकता है; लेकिन उसे इस बात का ज्ञान नहीं हो सकता कि उसने किसी चीज की उत्पत्ति की है या किसी चीज की इच्छा की है। वास्तव में, जिस व्यक्ति के बारे में माना जाता है कि उसने इच्छा किया है, यदि उसे स्वयं को उस व्यक्ति के रूप में जानना है जिसने ऐसा किया है तो उसे पूरी प्रक्रिया के दौरान स्वयं बिल्कुल अपरिवर्तित रहना होगा। इसके अलावा यदि आत्मा किसी भी चीज के लिए आंतरिक रूप से दृढ़ संकल्पित है, तो उसके कार्य स्वतंत्र कार्य नहीं होंगे। दर्शनशास्त्र में आत्म–निर्धारण एक बड़ी बात है। ऐसा माना जाता है कि यह बहुत कुछ संकेत करता है। लेकिन या तो यह विरोधाभासी शब्द है, या इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा केवल अपने विचारों का एक खेल है, भले ही ये कितने ही महान क्यों न माने जाते हों।

आत्मा को अपरिवर्तनशील सिद्ध करने के लिए हमने जो विभिन्न तर्क दिये हैं वे हालांकि एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में दोषपूर्ण लगते हैं। यह तर्क किया जा सकता है कि आत्मा एक हाँड़–माँस का व्यक्ति है न कि 'मैं' शब्दमात्र। यह एक चरित्र है और इसका अनुभव और शिक्षा से विकास होता है। परंतु यह देखना मुश्किल नहीं है कि जब तक आत्मा परिवर्तन के बीच एक ही नहीं रहती तब तक न तो अनुभव और न ही शिक्षा संभव होगी। हम कहते भी हैं कि यह वही व्यक्ति है जो बुद्धिमान हो गया है या अपनी आदत बदल लिया है। हम यहाँ तक कह सकते हैं कि वह एक भिन्न व्यक्ति हो गया है या यह वही व्यक्ति है जिसे हम जानते थे और वह बदल गया है। व्यक्ति में यह एकरूपता क्या है? यह मानसिक जीवन की कोई विशिष्टता नहीं हो सकती। वास्तव में, मानसिक दशा में ऐसा कुछ भी नहीं जो अनुभव और शिक्षा के साथ बदलता न हो। एकमात्र चीज जिसे हम व्यक्ति के रूप में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

जानते हैं वह है होने का भाव जो आत्म–चेतना में उपलब्ध है जिसे 'मैं' की चेतना कह सकते हैं। यह अपरिवर्तित रहता है। यही एकमात्र एकरूपता है जो व्यक्ति के जीवन की विभिन्न दशाओं में प्राप्त होती है जिसके कारण उस व्यक्ति को वही व्यक्ति कहा जाता है। स्वयं अनुभव और शिक्षा तभी संभव होती है जब व्यक्ति में अपने वही होने का भाव अपरिवर्तित रहता है, वे (अनुभव और शिक्षा) इस भाव को नहीं बदल सकते।

यहाँ यह पूछा जा सकता है : लेकिन क्या आत्मा में कोई विशेष पहचान या व्यक्तित्व नहीं है? और यदि इसमें है, तो क्या आत्मा को इस विशिष्टता के साथ नहीं लिया जाना चाहिए? इसमें अब कोई संदेह नहीं है कि एक व्यक्ति की दूसरे से भिन्न उसके चरित्र की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। लेकिन चरित्र वस्तुतः परिवर्तनशील है, यह आकस्मिक है। व्यक्ति के वास्तविक व्यक्तित्व को इसमें नहीं पाया जा सकता है। वास्तविक व्यक्ति का कोई (विशिष्ट) चरित्र नहीं होता। फिर उसे कैसे वैयक्तिक बना सकते हैं या उसमें किसी विशिष्ट पहचान का कैसे आरोपण कर सकते हैं जिसके कारण वह अन्य से इतर है?

हम यह सोचने के लिए प्रवृत्त होते हैं कि (व्यक्ति में) कोई विशेष गुण अवश्य है जो अर्जित नहीं है और जिसके कारण एक व्यक्ति दूसरे से भिन्न होता है और जिसके कारण व्यक्ति 'अ' व्यक्ति 'ब' से भिन्न होता है। लेकिन वह गुण क्या है? आत्मा की कोई भौतिक या अभौतिक संरचना नहीं होती जिसे सोचा जा सके। जहाँ तक हमारी कल्पना जा सकती है वह अहंकार ही है जो सच्ची वैयक्तिकता का आधार हो सकता है। और हम (अहंकार के बारे में) ऐसा कोई गुण सोच नहीं सकते जिसके आधार पर एक अहंता को दूसरे से भिन्न किया जा सके। वैयक्तिकता का निर्माण वास्तविक व्यक्ति द्वारा उन गुणों को समाहित करने से होता है जो उसके परिवर्तनशील चरित्र को बनाते हैं। इसके अलावा उसमें और कोई चिह्न नहीं होता जिसके आधार पर उसे तथाकथित अन्य से भिन्न कहा जा सके।

हम वास्तव में 'मैं' की रिक्त चेतना में कोई भी विचारणीय विषयवस्तु नहीं पाते। परंतु ऐसा इसलिए है कि (हमारे अंदर) सत्ता को वस्तुनिष्ठ ढंग से देखने की दोषपूर्ण प्रवृत्ति है। हम तब तक प्रभावित नहीं लगते जब तक हम अपने को छोटा और जगत को बड़ा करके नहीं देखते। हमें अभी यह सीखना है कि हम अपने से बाहर की सत्ता को कितना ही बड़ा करके क्यों न

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

देखें, आत्मा इससे बृहत्तर है क्योंकि यही उसे परिमाण और इसलिए सत्ता देती है। वस्तुनिष्ठ तथ्य के रूप में आत्मा वास्तव में खाली ही है। परंतु यह एकमात्र सत्ता है जो स्वयं का भेदन करती कही जा सकती है और हमें वास्तविक प्रतीत होने वाली प्रत्येक सत्ता का भेदन (प्रकाशन) करती है।– क्रमशः–

दर्शनशास्त्र विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर (म. प्र.) 470003

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

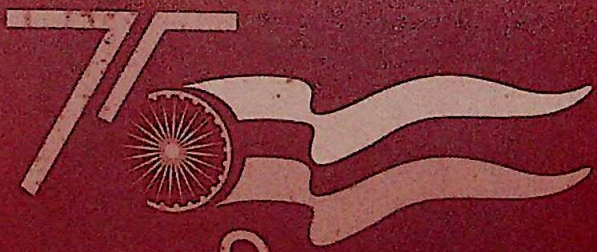

आज़ादी का
अमृत महोत्सव

ISSN 0974 0053

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection